उदारता.

नागपुर निवासी दानवीर श्रीमान् सेठ सरदारमलजी साहेब पुगलिया ने स्वर्गीय सेठ श्रीमान् केसरीमलजी कोठारी व आपकी सुपुत्री श्रीमती गुलाबबाई के स्मरणार्थ इस " निर्ग्रन्थ-प्रवचन " नामक ग्रन्थ में रू० ४००) चार सौ की आर्थिक सहायता प्रदान कर इस संस्था का जो उत्साह बढ़ाया है, वह प्रशंसनीय है। जिस के लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं।

भवदीयः—

सौभागमल महेता　　मास्टर मिश्रीमल
प्रेसिडेन्ट,　　मंत्री,
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम।

वन्दे वीरम्

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम.

के

जन्म दाता

श्रीमान् प्रसिद्ध वक्ता पण्डित मुनि श्री

चौथमलजी महाराज

स्तम्भ

श्रीमान् सेठ दानवीर राय कुन्दनमलजी लालचन्दजी ब्यावर
" " नेमीचन्दजी सरदारमलजी नागपुर
" " सरूपचन्दजी नागचन्दजी कलमसरा
" " चुन्नीलालजी पूनमचन्दजी न्यायडोंगरी
" " चांदमलजी सूरजमलजी पाचगिरी
" " बख्तमलजी सौभागमलजी जावरा

संरक्षक

श्रीमान् सेठ उदयचन्दजी घोरमलजी	उज्जैन
" रतनलालजी सोहनमलजी	आगरा
लालचन्दजी प्रेमराजजी	गुलेजगढ
वरधीचन्दजी सुगनचन्दजी	धामक
गणेशमलजी गुलाबचन्दजी	जैना
श्रीमती अनारबाई लालमणजी	आगरा
" पिस्ताबाई सोहनमलजी	आगरा
राजीबाई	बरोरा सी पी

सहायक

श्रीमान् सेठ पूनमचन्दजी नारायणदासजी	मनमाड
मोतीलालजी रामचन्दजी	नसिराबाद
" सागरमलजी मुगालचन्दजी	मलगाँव
सरूपचन्दजी भगनीरामजी	बेलापुर
चान्दमलजी सूरजमलजी	कासुर
तख्तमलजी चुन्नीलालजी	पोर्टीबाजार
मीतमलजी आलमचन्दजी	राजनादगाँव
रामलालजी मुन्नालालजी	बरोरा
बख्तावरमलजी रतनचन्दजी	भडगाँव
" लखमीचन्दजी पूनमचन्दजी	तम्बोखा
मेघराजजी गुलाबचन्दजी	न्यायडोंगरी
" चुन्नीलालजी भींवराजजी	न्यायडोंगरी
" मगनचन्दजी फौजमलजी	न्यायडोंगरी
" उदयरामजी कपूरामजी	दाभडी
" चौथमलजी मुलतानमलजी	सुरापुर

श्रीमान् सेठ कचरदासजी हरखचन्दजी	मोटीबाज़ार
,, ,, रायचन्दजी लालचन्दजी	मनमाड
,, ,, शोभाचन्दजी दखिचन्दजी	सिखेगांव
,, ,, नथमलजी रतनचन्दजी	मनमाड
,, ,, लादूरामजी मनोहरमलजी	इगतपुरी
,, ,, सरूपचन्दजी भूरजी	कोपरगांव
,, ,, अमोलकचन्दजी रतनचन्दजी	बाघली
,, ,, जीवराजजी मेघराजजी	पाम्बोरी
,, ,, पूनमचन्दजी हीराचन्दजी	पीसर
,, ,, इन्दरमलजी बच्छराजजी	बाघली
,, ,, कस्तुरचन्दजी किशनदासजी	भाटी
,, ,, लालचन्दजी हरखचन्दजी	रोहिणी

मेम्बर

श्रीमान् सेठ बारावरमलजी बरदीचन्दजी	ब्यावर
,, ,, लालचन्दजी मोतीलालजी	चंदनखेड़ा
,, ,, ताराचन्दजी बेचरदासजी	बरवगांव
,, ,, चौथमलजी पुरणमलजी	बेघवे
,, ,, राजमलजी मन्नारामजी	बरणगांव
,, ,, पन्नालालजी मोतीलालजी	सिवनी
,, ,, सुखराजजी जेठमलजी	वारणा
,, ,, डूगरसिंहजी रतनचन्दजी	किशनगढ़
,, ,, चुन्नीलालजी फूलचन्दजी	इन्दठाणा
,, ,, पुरखचन्दजी हस्तीमलजी	बुईसरान
,, ,, हेमराजजी हंसराजजी	बरोरा
,, ,, रावतमलजी चोरडिया	बरोरा

और क्लेशों से क्रमशः शान्त और मुक्त वे भर हो जाते हैं, और सभी प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुखों का अन्त भी वे अपना कर लेते हैं। क्योंकि, इन प्रवचनों के प्रवर्तक भी तो राग-द्वेषादि सम्पूर्ण प्रकार के द्वन्द्वों से रहित और उन से परे होते हैं। वे पापी या धर्मी हो, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, इन सभी को एकसा अपनाते हैं। छूआछूत का रोग तो, कभी छूकर के भी उन के पास से हो कर नहीं निकलता। चाहे कोई एक सम्राट् हो या कोई कंगाल, अथवा ब्राह्मण हो या शूद्र प्रवचन करने-कराने का इन सभी के लिए एकसा राज-मार्ग खुला हुआ है। भगवान् महावीर की ओर से, तनिक भी भेदाभेद, इस किसी के लिए नहीं रक्खा जाता है। हमारे इस उपर्युक्त कथन की सचाई में अधिक नहीं; बस, एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। वह इस प्रकार है—

जहा पुण्णस्स कत्थति, तहा तुच्छस्स कत्थति।
जहा तुच्छस्स कत्थति, तहा पुण्णस्स कत्थति॥

आ० १ अ० २, उ० ६

अर्थात् एक महान् से महान् पुण्याधिकारी सम्राट् या उच्च जातिवाले को, जैन-धर्म के सभी तीर्थंकर, जिस प्रकार का प्रवचन करते आये हैं, ठीक उसी प्रकार का प्रवचन वे एक हीनतमपुण्य वाले कंगाल से कंगाल को भी, फिर चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, करते हैं। और, जैसा प्रवचन शूद्र को वे करते हैं, उसी प्रकार का एक उच्च वंश में उत्पन्न

होने वाले व्यक्ति को भी वे करते हैं। वहां इस में तनिक भी अन्तर कभी नहीं रक्खा जाता है। इसी के सम्बन्ध में जम्बू स्वामी ने, अपने गुरु धुरन्धर विद्वान् सुधर्मा स्वामी से, एक दिन यों प्रश्न किया था, कि—

कहं च णाणं कह दंसणं से,
सीलं कहं णायसुतस्स आसी।
जाणासि णं भिक्खु ! जहा तहेणं,
अहा सुतं बूहि जहा णिसंतं॥

सूत्रकृतांग।

अर्थात्—हे सुधर्मा स्वामी! जिस प्रकार आत्म-कल्याण सत्य और पवित्र है, उसी प्रकार आत्म हित के वक्ता भी सदाचार से युक्त होना परम आवश्यकीय है। क्योंकि, बिना सदाचार के सत्य वक्ता वह कभी बन ही नहीं सकता। अतएव हे सुधर्मा स्वामी! उन परम पावन भगवान् महावीर के आत्म ज्ञान, दर्शन, शील, तथा सदाचार, आदि के सम्बन्ध में आप जो भी कुछ जानते हों, अपने हृदय में करुणा, ला कर, उसे कहने की कृपा करें। क्योंकि, एक तो भगवान के जन्म-काल से ले कर निर्वाण-पद की प्राप्ति पर्यन्त के, घोर चरित्रों को, आप भली-भांति जानते हैं। दूसरे, आप स्वयं भी ज्ञानादि गुणों के ज्ञाता हैं। तीसरे, अनेकों गुण-गण आज तक श्रवण करने में आप के आये हैं। और चौथे, उन गुणों को भगवान्-मुखों से केवल श्रवण ही आप ने नहीं किया, वरन्

मन्तःकरण का आपने उन को मली-भांति किया है। अस्तु।
इस के उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा-

> जेयथा में कुमसे महसी भगवत नायो य मयात वसी।
> सर्वस्सियाण चवभु पाहिट्ठियस्स प्राणाहि धम्म च भिईं च पेहा॥
>
> सूत्र कृतांग।

अर्थात्—जिस प्रकार तुम अपनी आत्मा को अप्रिय हैं और जान पड़ता है ठीक वैसे ही वह अन्य आत्माओं को भी अप्रिय है। इस प्रकार के ज्ञान को जो अन्य आत्मा अपने हृदय में धारण करने वाला है, वही खेदज्ञ है। महा प्रभु का विशाल हृदय इस खेदज्ञता से सदा सर्वदा लबालब भरा रहता था। दूसरी ओर, लोकालोक तथा आकाश का यथावस्थित रूप से जानने के कारण वे 'क्षेत्रज्ञ' भी कहलाते थे। इसी तरह एक ओर जहां वे यथावस्थित आत्म स्वरूप को जानने से आत्मज्ञ कहलाते वहां मोक्ष-मार्ग विधि कर्म का क्षय करने में भी निपुण वे थे। तप की आराधना करने में भी अपने समय के वे एक ही थे। यह कारण था कि जगत् उन्हें 'महर्षि' भी कहता था। फिर स्वस्थान ही में स्थित हो कर लोकालोक के अनन्त स्वरूप को हस्तामलकवत्, या हस्त रेखा के समान देख और जान वे सकते थे, इसी से 'अनन्त ज्ञानी' और 'अनन्त दर्शी' वे थे। उन का यशश्चन्द्र दिशा-विदिशाओं में सदा सर्वदा उस समय छिटक रहा था, उसी समय क्यों, आज भी अपनी निर्मल आभा को लोक परलोक में छिटक रहा है,

इसी लिए 'यशोधर्मा' वे कहलाते थे। सभी लोकों के सूक्ष्म तथा असूक्ष्म पदार्थों को देखने में उनका ज्ञान आँख का भांति ही अनोखा काम करता था। इस के अतिरिक्त, हे जम्बू! वीर प्रभु के द्वारा प्रतिपादित श्रुत एवं चारित्र-धर्म को संसार रूपी महा-सागर से पार लगानेवाला समझो। और, देखो! श्रमण मार्ग में उन की अनुपम धीरता, वीरता, सहिष्णुता, सजीवता और अलौकिक प्रसन्न-चित्तता को। वेही महावीर, श्रमण वर्धमान और निग्रन्थ, आदि आदि और भी अनेकों पावन नामों से पुकारे गये हैं। उन्हीं ऐसे निर्ग्रन्थ के प्रवचनों से, आज सभी कौमों तथा सभी अवस्थाओं के जैन अजैन नर-नारी, सर्वत्र एकसा और सुगमता-पूर्वक लाभ उठा सकें, एक मात्र इसी परम पवित्र उद्देश्य को ले कर, बम्बई, पूना अहमद-नगर, आदि आदि कई प्रसिद्ध शहरों के तथा गावों के बहु-संख्यक सद्‌गृहस्थों ने, श्रीमज्जैनाचार्य, शास्त्र-विशारद, बाल ब्रह्मचारी, पूज्यवर श्री मन्नालालजी महाराज के सम्प्रदायानु-यायी, कविवर, सरल स्वभावी, मुनि श्री हीरालालजी महाराज के सुशिष्य प्रसिद्धवक्ता, पंडित मुनि श्री चौथमलजी महाराज से कई बार प्रार्थना की कि यदि आप जैनागमों में से चुन कर कुछ गाथाओं को एक स्थल पर संग्रह कर के, उन का सुबोध तथा सरलातिसरल भाषा में एक हिन्दी अनुवाद भी कर दें, तो जैन-जगत् ही पर नहीं, वरन् अजैन-जनता के साथ भी आप का बड़ा भारी उपकार होगा। यदि इस प्रकार का स्वारस्यपूर्ण सुबोध युक्त एक ग्रन्थ प्रकाशित हो कर जगत

को मिल जाय तो जैन-जनता तो उस से यथोचित लाभ उठा
लेगी ही परन्तु साथ ही उन के वह जनेतर जनता भी, जो जैन-
साहित्य की बानगी कुछ चख कर, जैनागमों के महा-सागर
में गोता लगाना चाहती है या गोता लगाने के लिए दीर्घ
काल से बड़ी ही लालायित है उस से किसी कदर कम लाभ
नहीं उठायेगा। इस प्रकार से, उन सद्गृहस्थों के द्वारा समय
समय के प्रस्ताव तथा निवेदन के किये जाने पर, उन्हीं प्रसिद्ध
वक्ता पंडित मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने, जैनागमों का
मन्थन कर कुछ ऐसी गाथाओं का संग्रह यहां किया, जो जगत्
के दैनिक जीवन में प्रति पल हितकारी सिद्ध हों। तदनन्तर
उन्हीं संग्रहीत गाथाओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी उन
ने किया। और, मुनि राज के द्वारा अनुवादित पत्रों पर से,
जिसे उन के शिष्य मनोहर व्याख्यानी पंडित मुनि श्री
सुगनलालजी महाराज और साहित्य-प्रेमी पंडित मुनि श्री
प्यारचन्दजी महाराज ने इस रूप में रक्खा। उन पत्रों पर से
लिखने में या किसी प्रकार के दृष्टि-दोष से, अथवा अन्य
किसी भी प्रकार की कोई भी भूल इस अनुवाद में पाठकों को
कहीं जान पड़े, तो कृपया प्रकाशक को उस की सूचना से अवश्य
दे दें। इस प्रकार की शुभ-सूचना का प्रकाशक के हृदय में सदा-
सुख से बड़ा ही ऊँचा स्थान रहेगा। और, यदि बहु सम्यक
विद्वानों की राय में वह सूचना आवश्यक और उपादेय जान
पड़ी, तो द्वितीयावृत्ति में उस के माँगे के अनुसार, उचित

संशोधन भी करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायगा।

अन्त में एक निवेदन और है, कि भगवान् की भाषा, जिस में कि उन के प्रवचनों का समग्र संसार को ज्ञान संभाव्य है, अर्द्ध-मागधी है। जो कि भारतवर्ष के अधिकांश जन साधारण की बोलचाल की भाषा से बिलकुल ही निराली है। फिर, उस के द्वारा आत्म-तत्त्व के बोध को करानेवाला विषय भी स्वयं महान् गूढ़ और गम्भीर है। यह सब कुछ होते हुए भी, प्रस्तुत अनुवाद की भाषा को सरल से भी सरल बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। हमें पूरी पूरी आशा और विश्वास है, कि पाठकगण इस से यथोचित लाभ उठा कर हमारे उत्साह को बढ़ाने का सत्प्रयत्न करने की कृपा दिखावेंगे। [illegible] ता० २-१-१९३१ ई०

भवदीय

सौभागमल महता — मास्टर मिश्रीमल

मेजिस्ट्रेट — मंत्री

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम।

को मिल जाय तो जैन-जनता तो उस से यथोचित लाभ उठा-
वेगी ही परन्तु साथ ही इस के, वह जैनेतर जनता भी, जो जैन-
साहित्य की जानकी कुछ पढ़ कर, जैनागमों के महा-सागर
में गोता लगाना चाहती है या गोता लगाने के लिए दीर्घ
काल से बड़ी ही लालायित है उस से किसी कदर कम लाभ
नहीं उठावेगी। इस प्रकार से, उन सद्गृहस्थों के द्वारा समय
समय के अत्याग्रह तथा निवेदन के किये जाने पर, उन्हीं प्रसिद्ध
वक्ता पंडित मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने, जैनागमों का
मन्थन कर कुछ ऐसी गाथाओं का संग्रह यहां किया, जो जगत्
के दैनिक जीवन में प्रति पल हितकारी सिद्ध हों। तदनन्तर
उन्हीं संग्रहित गाथाओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी उन
ने किया। और, मुनि राज के उन्हीं अनुवादित शब्दों पर से,
जिसे उन के शिष्य मनोहर व्याख्यानी पण्डित मुनि श्री
जमनालालजी महाराज और साहित्य-प्रेमी पंडित मुनि श्री
प्यारचन्दजी महाराज ने इस ढाल में ढाला। उन शब्दों पर से
लिखने में या किसी प्रकार के दृष्टि-दोष से, अथवा अन्य
किसी भी प्रकार की कोई भी भूल इस अनुवाद में पाठकों को
कहीं जान पड़े, तो कृपया प्रकाशक को उस की सूचना वे अवश्य
दे दें। इस प्रकार की सु-सूचना का प्रकाशक के हृदय में सब
सुख से बड़ा ही ऊँचा स्थान होगा। और यदि वह सम्यक्
विज्ञों की राय में वह सूचना आवश्यक और उपादेय जान
पड़ी, तो द्वितीयावृत्ति में उस के वा उन के अनुसार, उचित

संशोधन भी करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायगा।

अन्त में एक निवेदन और है, कि भगवान् की भाषा, जिस में कि उन के प्रवचनों का समह संसार को आज सम्प्राप्य है, अर्द्ध-मागधी है। जो कि भारतवर्ष के अधिकांश जन साधारण की बोलचाल की भाषा से बिलकुल ही निराली है। फिर, उस के द्वारा आत्म-तत्त्व के बोध को करानेवाला विषय भी स्वयं महान् गूढ़ और गम्भीर है। यह सब कुछ होते हुए भी, प्रस्तुत अनुवाद की भाषा को सरल से भी सरल बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। हमें पूरी पूरी आशा और विश्वास है, कि पाठकगण इस से यथोचित लाभ उठा कर, हमारे उत्साह को बढ़ाने का सत्प्रयत्न करने की कृपा दिखावेंगे। फस्त ता० १-१-१९११ ई०

भवदीय

सौभागमल महता — मास्टर भिभीमल

प्रेसिडेण्ट — मन्त्री

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम।

॥ नमो सिद्धार्थं ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा ।

अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ॥

अज्झत्थहेउं नियअस्स बंधो ।

संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! यह आत्मा (अमुत्तभावा) अमूर्तपन होने से (इंदियग्गेज्झ) इन्द्रियों द्वारा ग्रहण (नो) नहीं हो सकती है । (य) और (वि) निश्चय ही (अमुत्तभावा) अमूर्तमान् होने से आत्मा (निच्चो) हमेशा (होइ) रहती है (अस्स) इसका (बंधो) बंध जो है वह (अज्झत्थहेउं) आत्मा के आश्रित रहे हुए मिथ्यात्व कषायादि हेतु (च) और (बंधं) बंधन को (नियअ) निश्चय ही (संसारहेउं) संसार का हेतु (वयंति) कहा है ।

भावार्थ—हे गौतम ! यह आत्मा अमूर्तिमान् [State of being devoid of colour smell taste and touch] अर्थात् वर्ण गंध रस और स्पर्श रहित होने से इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकती है । और अरूपी होने से न कोई

इसे पकड़ ही सकता है। और जो अमूर्तमान् अर्थात् अरूपी है वह हमेशा अविनाशी है । सदा के लिये कायम रहने वाली है। जो शरीरादि से इसका बंधन होता है वह आत्मा में हमेशा से रहे हुए प्रवाह से मिथ्यात्व अव्रत आदि कषायों (The four moral impurities viz anger pride deceit and greed which obscure the spotless Nature of the soul and cause it to wander in the cycle of worldly existence.) का ही कारण है जैसे आकाश अमूर्तमान् है। पर घटादि के कारण से आकाश घटाकाश के रूप में दिख पड़ता है। ऐसे ही आत्मा को भी अनादि काल के प्रवाह से मिथ्यात्वादि के कारण शरीर के बंधन रूप में समझना चाहिए। और यही बंधन संसार में परिभ्रमण करने का साधन है।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा काम दुहाधेणू अप्पा मे नंदणं वणं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) यह आत्मा ही (वेयरणी) वैतरणी (नई) नदी के समान है (मे) मेरी (अप्पा) आत्मा (कूडसामली) कूटशाल्मली के वृक्ष रूप है। और यही (अप्पा) आत्मा (काम दुहा) काम दुधा रूप (धेणू) गाय है । और यही मेरी (अप्पा) आत्मा (नंदणं) नंदन (वणं) वन के समान है।

भावार्थः—हे गौतम ! यही आत्मा (Soul) वैतरणी नदी के समान है। अर्थात् इसी आत्मा का अपने बुरे कार्यों

स वैतरणी नदी में गोता खाने का मौका मिलता है। वैतरणी नदी का कारण भूत यह आत्मा ही है। इसी तरह यह आत्मा नरक में रहे हुए कूटशाल्मली वृक्ष के द्वारा होने वाले दुखों की कारण भूता है। और यही आत्मा अपने शुभ कृत्यों के द्वारा कामदुग्धा गाय के समान है, अर्थात् इच्छित सुखों की प्राप्ति कराने में यही आत्मा काम दुग्धा धेनु के समान कारण भूता है। और यही आत्मा नंदनवन के समान है। अर्थात् स्वर्ग और मुक्ति के सुख सम्पन्न कराने में अपने आप ही स्वाधीन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे ! इन्द्रभूति (अप्पा) यह आत्मा ही (दुहाय) दुखों की (य) और (सुहाण) सुखों की (कत्ता) उत्पन्न करने वाली (य) और (विकत्ता) नाश करने वाली है। (अप्पा) यह आत्मा ही (मित्तं) मित्र है (च) और (अमित्तं) शत्रु है। और यही आत्मा (दुप्पट्ठिय) दुराचारी और (सुपट्ठियो) सदाचारी है।

भावार्थ—हे गौतम ! यही आत्मा दुखों एवं सुखों के साधनों का कर्ता रूप है। और उन्हें नाश करने वाली भी यही आत्मा है। यही शुभ कार्य करने से मित्र के समान है और अशुभ कार्य करने से शत्रु के सदृश हो जाती है। सदाचार का सेवन करने वाली और दुष्ट आचार में प्रवृत्त होने वाली भी यही आत्मा है।

न तं अरी कण्ठछित्ता करोति।
अं से करे अप्पणिया दुरप्पा॥
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते।
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥ ४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (से) वह (अप्पणिया) अपनी (दुरप्पा) दुराचरणशील आत्मा ही है जो (जं) उस अनर्थ को (करे) करती है। (तं) जिसे (कण्ठछित्ता) कण्ठ का छेद न करने वाला (अरी) शत्रु भी (न) नहीं (करोति) करता है (तु) परन्तु (से) वह (दयाविहूणो) दयार्द्र न दुरात्मा (मच्चुमुहं) मृत्यु के मुँह में (पत्ते) प्राप्त होने पर (पच्छाणुतावेण) पश्चाताप करके (नाहिइ) अपने आप को जानेगा।

भावार्थः—हे गौतम! यह दुरात्मा जैसे जैसे अनर्थों को कर बैठती है वैसे अनर्थ एक शत्रु भी नहीं कर सकता है। क्योंकि शत्रु तो एक ही बार अपने शस्त्र से दूसरों के प्राण हरण करता है परन्तु यह दुरात्मा तो ऐसा अनर्थ कर बैठती है कि जिसके द्वारा अनेक जन्मजन्मान्तरों तक मृत्यु का सामना करना पड़ता है। फिर दयाहीन उस दुरात्मा को मृत्यु के समय पश्चाताप करने पर अपने कृत्य कार्यों का भान होता है कि अरे हा! इस आत्मा ने कैसे कैसे अनर्थ कर डाले हैं।

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य॥ ५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) आत्मा (चेव) ही (दमेयव्वो) दमन करने योग्य है । (हु) क्योंकि (अप्पा) आत्मा (खलु) निश्चय (दुद्दमो) दमन करने में कठिन सी है । इसी तो (अप्पा) आत्मा को (दंतो) दमन करता हुआ (अस्सि) इस (लोए) लोक (य) और (परत्थ) परलोक में (सुही) सुखी (होइ) होता है ।

भावार्थ—हे गौतम ! क्रोधादि के वशीभूत होकर आत्मा उन्मार्ग-गामी होती है । उसे दमन करके अपने काबू में करना योग्य है । क्योंकि निजी आत्मा को दमन करना अर्थात् विषय वासनाओं से उसे पृथक करना महान् कठिन है और जब तक आत्मा को दमन न किया जाय तब तक उसे सुख नहीं मिलता है । इसलिए हे गौतम ! आत्मा को दमन कर जिस से इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त हो ।

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिय ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! आत्माओं को विचार करना चाहिए कि (मे) मेरे द्वारा (संजमेण) संयम (य) और (तवेण) तपस्या करके (अप्पा) आत्मा को (दंतो) दमन करना (वरं) प्रधान कर्त्तव्य है । नहीं तो (हं) मैं (परेहिं) दूसरों द्वारा (बंधणेहिं) बन्धनों करके (य) और (वहेहिं) ताड़ना करके (दम्मंतो) दमन (मा) कहीं न हो जाऊं ।

भावार्थ—हे गौतम ! प्रत्येक आत्माओं को विचार करना

दूसरों के साथ (जुज्झेण) युद्ध करने से (किं) क्या पड़ा है ? (अप्पाणमेव) अपनी आत्मा ही के द्वारा (अप्पाणं) आत्मा को (जइत्ता) जीतने से (सुहं) सुख को (एहए) प्राप्त होता है।

भावार्थः–हे गौतम ! अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करके क्रोध मन मोहादि पर विजय प्राप्त कर। दूसरों के साथ युद्ध करने से प्रत्युत कर्म बंध के सिवाय आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं होता। अतः अपनी आत्मा द्वारा अपने ही मन को जीत लेने पर उसे सुख प्राप्त होता है।

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (दुज्जयं) जीतने में कठिन ऐसे (पंचिंदियाणि) पाँचों इन्द्रियों के विषय (कोहं) क्रोध (माणं)मान(मायं)कपट(तहेव)वैसे ही (लोभं) तृष्णा (चेव) और भी मिथ्यात्व अव्रतादि(च)और(अप्पाणं)मन येसब(सव्वं) सर्व(अप्पे)आत्मा को (जिए) जीतने पर(जियं)जीते जाते हैं।

भावार्थ –हे गौतम ! जो भी पाँचों इन्द्रियों के विषय और क्रोध मान माया लोभ तथा मन ये सब के सब दुर्जयी हैं। तथापि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करलेने से इन पर अनायास में ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥१०॥

चाहिए कि मेरी ही आत्मा द्वारा संयम और तप करके आत्मा को वश में करना श्रेष्ठ है। अर्थात् स्ववश आत्मा को दमन करना श्रेष्ठ है। नहीं तो फिर विषय वासना-सेवन के बाद कहीं ऐसा न हो कि उस के फल उदय होने पर इसी आत्मा का दूसरों के द्वारा बधन आदि से अथवा लकड़ी चाबुक भाला बरछा आदि के घाव सहने पड़ें।

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (जो) जो कोई मनुष्य (दुज्जए) जीतने में कठिन ऐसे (संगामे) संग्राम में (सहस्साणं) हजार का (सहस्सं) हजार गुणा अर्थात् दश लक्ष सुभटों को जीत ले उस से भी बलवान (एगं) एक (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (जिणिज्ज) जीते (एस) यह (से) उसका (जओ) जीतना (परमो) उत्कृष्ट है।

भावार्थ—हे गौतम! जो मनुष्य युद्ध में दश लक्ष सुभटों को जीत ले उस से भी कहीं बढ़ अधिक विजय का पात्र है जो अपनी आत्मा में स्थित काम क्रोध मद, लोभ मोह और माया आदि विषयों के साथ युद्ध करके और इन सभी को पराजय कर अपनी आत्मा को काबू में कर ले।

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (अप्पाणमेव) आत्मा के साथ ही (जुज्झाहि) युद्ध कर (ते) तुझे (बज्झओ)

दूसरों के साथ (जुज्झेण) युद्ध करने से (किं) क्या पड़ा है ? (अप्पाणमेव) अपनी आत्मा ही के द्वारा (अप्पाणं) आत्मा को (जइत्ता) जीतने से (सुहं) सुख को (एहए) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करके क्रोध मद, मोहादि पर विजय प्राप्त कर। दूसरों के साथ युद्ध करने से प्रत्युत कर्म बंध के सिवाय आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं होता। अतः अपनी आत्मा द्वारा अपने ही मन को जीत लेने पर उसे सुख प्राप्त होता है।

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दुज्जयं) जीतने में कठिन ऐसे (पंचिंदियाणि) पाँचों इन्द्रियों के विषय (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) कपट (तहेव) वैसे ही (लोभं) तृष्णा (च) और भी मिथ्यात्व अव्रतादि (च) और (अप्पाणं) मन से (सव्वं) सब (अप्पे) आत्मा को (जिए) जीतने पर (जियं) जीते जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जो भी पाँचों इन्द्रियों के विषय और क्रोध मान माया लोभ तथा मन ये सब के सब दुर्जयी हैं। तथापि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करलेने से इन पर अनायास में ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जीवाऽजीवाय) चेतन और जड़ (य) और (बंधो) कर्म (पुण्णं) पुण्य (पावासवो) पाप और आस्रव (तहा) तथा (संवरो) संवर (निज्जरा) निर्जरा (मोक्खो) मोक्ष (एए) ये (नव) नौ पदार्थ (तहिया) तथ्य (संति) कहलाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जीव [Soul] जड़ [devoid of common sense] अर्थात् चेतना रहित, बंध [The relation of the soul and karma] अर्थात् जीव और कर्म का मिलना। पुण्य [Merit that results from good deeds and which leads to happiness] शुभ कार्यों द्वारा संचित शुभ कर्म। पाप [sin, karmic-bond due to wicked deeds] अर्थात् दुष्कृत्य जन्य कर्म बंध। आस्रव [A door a sluice for the inflow of Karma] अर्थात् कर्म आने का द्वार। संवर [the stopping of the inflow of Karmic matter] आते हुए कर्मों का रुकना। निर्जरा [Decay or destruction of Karmas] अर्थात् एक देश कर्मों का क्षय होना। मोक्ष [Salvation] अर्थात्-सम्पूर्ण पाप पुण्यों से छूट जाना। एकान्त सुख के भागी होना मोक्ष है।

धम्मो अहम्मो आगास कालो पोग्गलजंतवो।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (धम्मो) धर्मास्तिकाय (अहम्मो)

अधर्मास्तिकाय (आगासे) आकाशास्तिकाय (कालो) समय (पुग्गलजंतवो) पुद्गल और जीव (एए) ये छः ही द्रव्य वाला (लोगुत्ति) लोक है। ऐसा (वरदंसिहिं) केवल ज्ञानी (जिणेहिं) जिनवरों ने (पण्णत्तो) कहा है।

भावार्थः हे गौतम! धर्मास्तिकाय [A substance which is the medium of motion to soul and which contains innumerable atoms of space pervades the whole universe and has no fulcrum of motion] अर्थात् जीव और जड़ पदार्थों को गमन करने में सहाय्य भूत हो। अधर्मास्ति काय [One of the six Dravyas or substances which is a medium of rest to soul and matter] अर्थात् जीव और अजीव पदार्थों की गति को अवरोध करने में कारण भूत एक द्रव्य है। और आकाश समय जड़ और चेतन इन छः द्रव्यों को ज्ञानियों ने लोक कह कर पुकारा है।

धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो ॥१४॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (धम्मो) धर्मास्ति काय (अहम्मो) अधर्मास्ति काय (आगासं) आकाशास्ति काय (दव्वं) इन द्रव्यों को (इक्किक्कं) एक एक द्रव्य (आहियं) कहा है (य) और (कालो) समय (पुग्गलजंतवो) पुद्गल एवं जीव इन द्रव्यों को (अणंताणि) अनंत कहे हैं।

भावार्थः—हे शिष्य ! धर्मास्ति काय अधर्मास्ति काय और आकाशास्तिकाय [A substance in which all things exist or reside) अर्थात् प्रत्येक वस्तु को अवकाश देने वाला द्रव्य, ये तीनों एक एक द्रव्य हैं। जिस प्रकार आकाश के टुकड़े नहीं होते, वह एक अखण्ड द्रव्य है, ऐसे ही धर्मास्ति अधर्मास्ति भी एक एक ही अखण्ड द्रव्य है और पुद्गल (A material molecule having colour smell taste and touch, one of the six substances) अर्थात्-वर्ण गंध रस स्पर्श वाला एक मूर्त द्रव्य तथा जीव और [अतीत व अनागत की अपेक्षा] समय ये तीनों अनंत द्रव्य माने गये हैं।

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (गइलक्खणो) गमन करने में सहायता देने का लक्षण है जिसका उसको (धम्मो) धर्मास्ति काय कहते हैं। (ठाणलक्खणो) ठहरनेमें मदद देने का लक्षण है जिसका उसको (अहम्मो) अधर्मास्तिकाय कहते हैं। और (सव्वदव्वाणं) सर्व द्रव्यों को (भायणं) भाजन रूप (ओगाहलक्खणं) अवकाश देने का लक्षण है जिसका उसको (नहं) आकाशास्ति काय कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो जीव और जड़ द्रव्यों को गमन करने में सहाय्य भूत हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। और जो

रत्न म गहन पर भूत हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। और पाचों द्रव्यों का जो आधार भूत हो, कर अवकाश दे उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं।

वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ –हे इन्द्रभूति! (वत्तणालक्खणो) वर्तना है लक्षण जिसका उस को (कालो) समय कहते हैं (उवओग-लक्खणो) उपयोग लक्षण है जिसका उसको (जीवो) आत्मा कहते हैं। उस की पहचान है (नाणेणं) ज्ञान (च) और (दंसणेणं) दर्शन (य) और (सुहेणं) सुख (य) और (दुहेणं) दुख का अनुभव करना।

भावार्थ:–हे शिष्य! जीव और पुद्गल मात्र के पर्याय बदलने में जो सहायक होता है उसे काल कहते हैं। ज्ञानादि का प्रकाश या विशेषता जिस में हो वही जीवास्तिकाय है। जिस में उपयोग अर्थात् ज्ञानादि न सम्पूर्ण ही है और न अंश मात्र भी है वह जड़ पदार्थ है। क्योंकि जो आत्मा है वह सुख दुख ज्ञान दर्शन का अनुभव करती है इसी से इसे आत्मा कहा गया है और इन कारणों से ही आत्मा की पहचान मानी गई है।

सद्दंधयारउज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेइ वा।
वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सद्दंधयार) शब्द अन्धकार (उज्जोओ) प्रकाश (पहा) प्रभा (छायाऽऽतेवइ) छाया, धूप आदि ये (वा) अथवा (वण्णरसगंधफासा) वर्ण रस, गंध, स्पर्शादिकको (पुग्गलाणं) पुद्गलों का (लक्खणं) लक्षण कहा है। (तु) पाद पूर्ति।

भावार्थः—हे गौतम ! पुद्गलों का लक्षण यही है कि शब्द अन्धकार, रत्नादिक का प्रकाश, चन्द्रादिक की कांति शीतलता छाया धूप आदि ये सब कुछ और पाँचों वर्णादिक, सुगंध, दुर्गंध, पाँचों रसादिक और आठों स्पर्शादिक को ही पुद्गल माना गया है।

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागाय, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१८॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (पज्जवाणं) पर्यायों का (लक्खणं) लक्षण यह है कि (एगत्तं) एक पदार्थ के ज्ञान का (च) और (पुहत्तं) उस से भिन्न पदार्थ के ज्ञान का (च) और (संखा) संख्या का (च) और (संठाणमेव) आकार प्रकार का (संजोगा) एक से दो मिले हुओं का (च) और (विभागाय) यह इससे अलग है ऐसा ज्ञान जो कराने वही पर्याय है।

भावार्थः—हे ! गौतम ! पर्याय उसे कहते हैं, कि यह अमुक पदार्थ है यह उस से अलग है, यह अमुक संख्या वाला है इस आकार प्रकार का है यह इतने समूह रूप में

ठहरने में सहकारी भूत हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। और चारों द्रव्यों को जो आधार भूत हो कर अवकाश दे उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं।

वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (वत्तणालक्खणो) वर्तना है लक्षण जिसका उस को (कालो) समय कहते हैं (उवओग-लक्खणो) उपयोग लक्षण है जिसका उसको (जीवो) आत्मा कहते हैं। उस की पहचान है (नाणेणं) ज्ञान (च) और (दंसणेण) दर्शन(य) और (सुहेण) सुख (य) और (दुहेण) दुःख का अनुभव करना।

भावार्थ: हे शिष्य! जीव और पुद्गल मात्र के पर्याय बदलने में जो सहायक होता है उसे काल कहते हैं। ज्ञानादि का एकांश या विशेषांश जिस में हो वही जीवास्तिकाय है। जिस में उपयोग अर्थात् ज्ञानादि न सम्पूर्ण ही है और न अंश मात्र भी है वह जड़ पदार्थ है। क्योंकि जो आत्मा है वह सुख दुख ज्ञान दर्शन का अनुभव करती है इसी से इसे आत्मा कहा गया है और इन कार्यों से ही आत्मा की पहचान मानी गई है।

सद्दंधयारउज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेइ वा ।
वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १७ ॥

अध्याय दूसरा।

॥ भगवानुवाच ॥

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परियत्तइ ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अट्ठ) आठ (कम्माइं) कर्मों को (जहक्कमं) यथाक्रम से (आणुपुव्विं) क्रमवार (वोच्छामि) कहता हूं सो सुनो। क्योंकि (जेहिं) उन्हीं कर्मों से (बद्धो) बंधा हुआ (अयं) यह (जीवो) जीव (संसारे) संसार में (परियत्तइ) परिभ्रमण करता है।

भावार्थः-हे गौतम! जिन कर्मों करके यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है जिन के द्वारा संसार का अन्त नहीं होता है वे कर्म आठ प्रकार के होते हैं। मैं उन्हें क्रमपूर्वक और उनके स्वरूप के साथ कहता हूं।

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नाम कम्मं च गोयं च अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (नाणस्सावरणिज्जं) ज्ञानावरणीय (तहा) तथा (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय (तहा)

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूते ! (नाणावरणं) ज्ञानावरणीय कर्म (पंचविहं) पांच प्रकार का है। (सुय) श्रुतज्ञानावरणीय (आभिणिबोहियं) मतिज्ञानावरणीय (तइयं) तीसरा (ओहिनाणं) अवधिज्ञानावरणीय (च) और (मणनाणं) मनःपर्यय ज्ञानावरणीय (च) और (केवलं) केवल ज्ञानावरणीय।

भावार्थ-हे गौतम ! अब ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद कहते हैं। सो सुनो। (१) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म-जिस के द्वारा श्रवण शक्ति आदि में न्यूनता हो। (२) मतिज्ञानावरणीय समझने की शक्ति का कम होना ३ अवधिज्ञानावरणीय—जिस के द्वारा परोक्ष की बातें जानने में न आवें (४) मनः पर्यय ज्ञानावरणीय—दूसरों के मन की बात जानने में शक्ति हीन होना (५) केवल ज्ञानावरणीय—संपूर्ण पदार्थों के जानने में असमर्थ होना। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के फल हैं।

हे गौतम ! अब ज्ञानावरणीय कर्म बंधने का कारण बताते हैं सो सुनो (१) ज्ञानी के द्वारा बताये हुए तत्त्वों को असत्य बताना तथा उन्हें असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करना (२) जिस ज्ञानी के द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका नाम तो छिपा देना और मैं स्वयं ज्ञानवान् बना हूं ऐसा वातावरण फैलाना (३) ज्ञान की असारता दिखलाना कि इस में पड़ा ही क्या है ? आदि कह कर ज्ञान एवं ज्ञानी की अवज्ञा करना। (४) ज्ञानी से द्वेष भाव रखते हुए कहना कि वह पड़ा ही क्या है ? कुछ नहीं। केवल ढोंगी होकर ज्ञानी

सोते बाद छः मास पीस खाना, ये सब दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। इसके सिवाय चक्षु में दृष्टिमान्द्य या अन्धेपन आदि प्रकार की हीनता का होना तथा सुनने की सूँघने की स्वाद लेने की स्पर्श करने की शक्ति में हीनता मन द्वारा अवधिदर्शन होने में और केवल दर्शन अर्थात् सारे जगत को हाथ की रेखा के समान देखने में रुकावट का आना ये सब के सब नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। हे भव्यो! जब आत्मा दर्शनावरणीय [The-consation obscuring Karma] कर्म बांध लेता है तब वह जीव ऊपर कहे हुए फलों को भोगता है। अब हम यह बतायेंगे कि जीव किन कारणों से दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है। सो सुनो—(१) जिस को अच्छी तरह से दीखता है उसे भी अन्धा और काना कह कर उस के साथ विरुद्धता करना (२) जिस के द्वारा अपने नेत्रों को फायदा पहुंचा हो और न देखने पर भी उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो गया हो उस उपकारी के उपकार को भूल जाना (३) जिसके पास चक्षु ज्ञान से परे अवधिज्ञान है जिस अवधिज्ञान से वह कई भव अपने एवं औरों के देख लेता है। उसकी अवज्ञा करते हुए कहना कि क्या पड़ा है ऐसे अवधिज्ञान में ? (४) जिस के दुखते हुए नेत्रों के अच्छे होने में वा चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु के द्वारा होने वाला दर्शन में और अवधि दर्शन के प्राप्त होने में एवं सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखने वाले ऐसे केवल दर्शन प्राप्त करने में रोड़ा अटकाना (५) जिसको नहीं दिखता है या कम दिखता है उसे कहे कि इस धूर्त को अच्छा दिखता है तो भी अन्धा बन बैठा है। चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु दर्शन का जिसे अच्छा

ज्ञान का मद करना ह आदि करना (४) जो गुरु मीन पर रहा हो उसके काम में बाधा डालने में हर तरह से प्रयत्न करे (६) ज्ञानी के साथ वृथा सवाद वाद कर ईर्षा का झगड़ा करना। आदि आदि कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलापयला य।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ, पचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥
चक्खुमचक्खुओहिस्स, दसणे केवले अ आवरणे।
एय तु नव विगप्प, नायव्व दसणावरण ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (निद्दा) सुख से जागना (तहेव) वैसे ही (पयला) बैठे बैठे ऊँघना (य) और (निद्दानिद्दा) कठिनता से जागना (य) और (पयलापयला) चलते चलते ऊँघना (तत्तो अ) और इसके बाद (पचमा) पाँचवीं (थीणगिद्धी उ) स्त्यानगृद्धि (होइ) है ऐसा (नायव्वा) जानना (चक्खुमचक्खु ओहिस्स) चक्षु अचक्षु अवधि के (दसणे) दर्शन में (य) और (केवले) केवल में (आवरणे) आवरण (एवं तु) इस प्रकार (नव विगप्प) नौ भेदों से (दसणावरण) दर्शनावरणीय कर्म को (नायव्व) जानना चाहिए।

भावार्थ—हे गौतम ! अब दर्शनावरणीय कर्म के भेद बतलाते हैं सो सुनो (१) अपने आप ही नियत समय पर निद्रा से मुक्त होना (२) बैठे बैठे ऊँघना अर्थात् नींद लेना (३) नियत समय पर भी कठिनता से जागना (४) चलते फिरते ऊँघना और (५) पाँचवाँ भेद यह है कि

सोये बाद छ मास बीत जाना, ये सब दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। इसके सिवाय चक्षु में दृष्टिमान्द्य या अ‍ंधेपन आदि प्रकार की हीनता का होना तथा सुनने की, सूँघने की स्वाद लेने की स्पर्श करने की, शक्ति में हीनता मनद्वारा अवधिदर्शन होने में और केवल दर्शन अर्थात् सारे जगत को हाथ की रेखा के समान देखने में रुकावट का आना ये सब के सब नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के फल है। हे आर्य ! जब आत्मा दर्शनावरणीय [The-conation obscuring Karma] कर्म बांध लेता है तब वह जीव ऊपर कहे हुए फलों को भोगता है। अब हम यह बतावेंगे कि जीव किन कारणों से दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है। सो सुनो—(१) जिस को अच्छी तरह से दीखता है उसे भी अन्धा और काना कह कर उस के साथ विरुद्धता करना (२) जिस के द्वारा अपने नेत्रों को फायदा पहुंचा हो और न देखने पर भी उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो गया हो उस उपकारी के उपकार को भूल जाना (३) जिसके पास चक्षु ज्ञान से परे अवधिज्ञान है जिस अवधिदर्शन से वह कई भव अपने एवं औरों के देख लेता है। उसकी अवज्ञा करते हुए कहना कि, क्या पड़ा है ऐसे अवधिज्ञान में ? (४) जिस के दुखते हुए नेत्रों के अच्छे होने में या चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु के द्वारा होने वाला दर्शन में और अवधि दर्शन के प्राप्त होने में एवं सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखने वाले ऐसे केवल दर्शन प्राप्त करने में रोड़ा अटकाना (५) जिसको नहीं दिखता है या कम दिखता है उसे कहे कि इस धूर्त को अच्छा दिखता है तो भी अन्धा बन ठैठ है। चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु दर्शन का जिसे अच्छा

ज्ञान का दम भरना है आदि कहना (५) जो कुछ सीख पढ़ रहा हो उसके काम में बाधा डालने में हर तरह से प्रयत्न करे (६) ज्ञानी के साथ झपट झपट बोल कर व्यर्थ का झगड़ा करना। आदि आदि कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलापयला य।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥

चक्खुमचक्खुओहिस्स, दरिसणे केवले अ आवरणे।
एवं तु नव विगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (निद्दा) सुख से जागना (तहेव) वैसे ही (पयला) बैठे बैठे ऊँघना (य) और (निद्दानिद्दा) कठिनता से जागना (य) और (पयलापयला) चलते चलते भी ऊँघना (तत्तो अ) और इसके बाद (पंचमा) पाँचवीं (थीणगिद्धी उ) स्त्यानगृद्धि (होइ) है ऐसा (नायव्व) जानना (चक्खुमचक्खुओहिस्स) चक्षु अचक्षु अवधि के (दरिसणे) दर्शन में (अ) और (केवले) केवल में (आवरणे) आवरण (एवं तु) इस प्रकार (नव विगप्पं) नव भेदों से (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय कर्म को (नायव्वं) जानना चाहिए।

भावार्थ—हे गौतम! अब दर्शनावरणीय कर्म के भेद बतलाते हैं, सो सुनो। (१) अपने आप ही नियत समय पर निद्रा से मुक्त होना (२) बैठे बैठे ऊँघना अर्थात् नींद लेना (३) नियत समय पर भी कठिनता से जागना (४) चलते फिरते ऊँघना और (५) पाँचवीं भेद यह है कि

बाध होता है, सो अब सुनो—धन सम्पत्ति आदि ऐहिक सुख प्राप्ति होने का कारण सातावेदनीय का बंधन है। यह साता वेदनीय बंधन इस प्रकार बंधता है—दो इन्द्रियवाले लट गिंडोरे आदि तीन इन्द्रियवाले चींटियें, मकोड़े जूं आदि चार इन्द्रियवाले मक्खी मच्छर भौंरे आदि पांच इन्द्रियवाले हाथी घोड़े बैल ऊँट गाय, बकरी आदि तथा वनस्पति स्थित जीव और पृथ्वी पानी, आग वायु इन स्थावर जीवों की अनुकम्पा करने से तथा इन जीवों को किसी प्रकार से कष्ट और सोच नहीं पहुँचाने से एवं इन को झुराने तथा अश्रुपात न कराने से, लात मुक्कादि से न पीटने से परितापना न देने से इनका विनाश न करने से सातावेदनीय का बंध होता है।

शारीरिक और मानसिक जो दुःख होता है वह इन कारणों से होता है—दूसरों को दुःख देने से सोच उत्पन्न करने से झुराने से अश्रुपात कराने से दूसरों को पीटने से परिताप देने से प्राण, भूत, जीव और सत्व इन चारों ही प्रकार के जीवों को दुःख देने से फिक्र उत्पन्न कराने से झुराने से अश्रुपात कराने से पीटने से परिताप व कष्ट उत्पन्न कराने से असाता वेदनीय का बंध होता है।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (मोहणिज्जं पि) मोहनीय कर्म भी (दुविहं) दो प्रकार का है। (दंसणे) दर्शन मोहनीय (तहा) तथा (चरणे) चारित्र मोहनीय। अब (दंसणे)

बाध नहीं होता हो उसे कहे कि ज्ञान मूल कर मूल बन रहा है। और जो अवधि दर्शन से सब भवान्तर के कर्मों को जान लेता है उसको कह कि ढोंगी है। एवं केवल दर्शन से जो प्रत्यक्ष बात का स्पष्टीकरण करता है उसे असत्य वादी कह कर जो दर्शन के साथ द्वेष भाव करता है। (१) इसी प्रकार चक्षुदर्शनीय अचक्षुदर्शनीय अवधिदर्शनीय एवं केवल दर्शनीय के साथ जो द्वेष करता है।

वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव आसायस्स वि ॥७॥

अन्वयार्थ— हे इन्द्रभूति! (वेयणीयं पि) वेदनीय कर्म भी (सायमसायं च) साता और असाता (दुविहं) यों दो प्रकार के (आहियं) कहे गये हैं। (सायस्स) साता के (उ) तो (बहू) बहुत से (भेया) भेद है। (एमेव असायस्स वि) इसी प्रकार असाता वेदनीय के भी अनेक भेद है।

भावार्थ— हे गौतम! फुंसी फोड़े ज्वर नेत्रशूल आदि अन्य चिंता ये सब शारीरिक और मानसिक वेदना असाता वेदनीय कर्म के फल हैं। इसी तरह निरोग रहना चिन्ता फिक्र कुछ भी नहीं होना ये सब शारीरिक और मानसिक सुख साता-वेदनीय कर्म के फल है। हे गौतम! यह जीव साता और असाता वेदनीय कर्मों को किन किन कारणों से

१–अ पाद पूर्त्यर्थम।

सुख के लिए तीर्थंकरों [A founder of four Thirthas viz monks, nuns l.y men lay women) की आशा जपता रहता है यह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय है। यह कर्म जब तक बना रहता है तब तक उस जीव के मोक्ष के साथि यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्वमोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसी लिए यह जीव चौरासी का अन्त नहीं पा सकता। चौदहवें गुणस्थान (The 14 stages including false belief etc) पर जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नहीं रखने देता। तब फिर तीसरे और चौथे गुण स्थान की तो बात ही निराली है। इसका तीसरा भेद सममिथ्यात्व मोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य असत्य दोनों को बराबर समझता है। जिससे हे गौतम! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी में है और न यथार्थ गृहस्थ धर्म का ही पालन कर सकती है अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुण स्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नहीं देता है। हे गौतम! अब हम चारित्र मोहनीय के भेद कहते हैं सो सुनो–

चारित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (चारित्तमोहणं) चारित्र मोहनीय (कम्मं) कर्म (दुविहं) दो प्रकार का (वियाहियं) कहा गया है। (कसायमोहणिज्जं) क्रोधादि रूप

दर्शन मोहनीय कर्म (तिविहं) तीन प्रकार का (सुअं) कहा गया है। और (चरित्तं) चारित्र मोहनीय (दुविहं) दो प्रकार का (भवे) होता है।

भावार्थ—हे गौतम ! मोहनीय कर्म जो जीव बांध लेता है उसको अपने आत्मीय गुणों का भान नहीं रहता है। जैसे मदिरा पान करने वाले को कुछ भान नहीं रहता। उसी तरह मोहनीय कर्म के उदय होने में जीव का शुद्ध श्रद्धा और क्रिया की तरफ भान नहीं रहता है। यह कर्म दो प्रकार का कहा गया है। एक दर्शन मोहनीय दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन प्रकार और चारित्र मोहनीय के दो प्रकार होते हैं।

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय संबंध के (दंसणे) दर्शन में अर्थात् दर्शन मोहनीय में (एयाओ) ये (तिण्णी) तीन प्रकार की (पयडीओ) प्रकृतियाँ हैं (सम्मत्तं) सम्यक्त्व मोहनीय (मिच्छत्तं) मिथ्यात्व मोहनीय (य) और (सम्मामिच्छत्तमेव) सममिथ्यात्व मोहनीय ही है।

भावार्थ—हे गौतम ! दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। एक तो सम्यक्त्व मोहनीय—इस के उदय में जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो जाती है परन्तु मोहवशे पौद्गलिक

सुख के लिए तीर्थंकरों [A founder of four Thirthas viz monks nuns lay men lay women) की भावना अपना रहता है यह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय है। यह कर्म जब तक बना रहता है तब तक उस जीव के मोक्ष के साथि ध्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्वमोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसी लिए यह जीव चौरासी का अन्त नहीं पा सकता। चौदवें गुणस्थान (The 14 stages including false belief etc) पर जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नहीं रखने देता। तब फिर तीसरे और चौथे गुण स्थान की तो बात ही निराली है। इसका तीसरा भेद सममिथ्यात्व मोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य असत्य दोनों को बराबर समझता है। जिससे हे गौतम ! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी में है और न यथार्थ अहस्य धर्म का ही पालन कर सकती है अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुण स्थान के ऊपर रेकने तक का भी मौका नहीं देता है। हे गौतम ! अब हम चारित्र मोहनीय के भेद करते हैं सो सुनो–

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति ! (चरित्तमोहणं) चारित्र मोहनीय (कम्मं) कर्म (दुविहं) दो प्रकार का (वियाहियं) कहा गया है। (कसायमोहणिज्जं) क्रोधादि रूप

है। वे यों हैं। हास्य, रति अरति भय, शोक, जुगुप्सा और वेद यों सात भेद होते हैं और वेद के उत्तर भेद लेने से नो भेद हो जाते हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ करने से तथा मिथ्या श्रद्धा में रत रहने से और ममती रहने से मोहनीय कर्म का बंध होता है।

हे गौतम! अब हम आयुष्यकर्म (The Karma by the rise of which a soul has to finish a life period) का स्वरूप बतलावेंगे।

नेरइयतिरिक्खाउ, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउअ चउत्थ तु, आउकम्म चउव्विह ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (आउकम्मं) आयुष्य कर्म (चउव्विहं) चार प्रकार का है (नेरइयतिरिक्खाउं) नरकायुष्य तिर्यंचायुष्य (तहेव) वैसे ही (मणुस्साउं) मनुष्यायुष्य (य) और (चउत्थं तु) चौथा (देवाउअं) देवायुष्य है।

भावार्थः—हे गौतम! आत्मा के नियत समय तक एक ही स्थान रहने की मियाद को आयुष्य कर्म कहते हैं। यह आयुष्य कर्म चार प्रकार का है। (१) नरक योनि में रहने की मियाद को नरकायुष्य (२) तिर्यंच योनि में रहने की मियाद को तिर्यंचायुष्य (३) मनुष्य योनि में रहने की मियाद को मनुष्यायुष्य और (४) देव योनि में रहने की मियाद को देवायुष्य कहते हैं।

हे गौतम! अब हम इन चारों जगह का आयुष्य किन किन कारणों से बँधता है उसे कहते हैं। महारम्भ करना

महारम्भ आसक्त रहना पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना तथा मांस भक्षण आदि ऐसे कार्यों से नरकायुष्य का बंध होता है। कपट करना, कपट पूर्वक फिर कपट करना, असत्य भाषण करना, तौलने की वस्तुओं में और मापने की वस्तुओं में कमीवेशी लेना देना आदि ऐसे कार्यों के करने से तिर्यञ्चायुष्य का बंध होता है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रस्वभाव होना, सब जीवों पर दया भाव रखना तथा ईर्षा नहीं करना आदि कार्यों से मनुष्यायुष्य का बंध होता है। सराग संयम व महत्त्व धर्म के पालने, अज्ञानयुक्त तपस्या करने, बिना इच्छा से भूख प्यास आदि सहन करने तथा शील व्रत पालने से देवायुष्य का बंध होता है।

हे गौतम! अब हम आगे नाम कर्म [Tho 6th out of the 8 varieties of Karmas by which a soul acquires a name] का स्वरूप कहते हैं सो सुनो—

नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स य बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (नामकम्मं तु) नाम कर्म तो (दुविहं) दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है। (सुहं) शुभ नाम कर्म (च) और (असुहं) अशुभ नाम कर्म जिस में (सुहस्स) शुभ नाम कर्म के (बहू) बहुत (भेया) भेद हैं। (य) और (असुहस्स वि) अशुभ नाम कर्म के भी (एमेव) इसी प्रकार अनेक भेद माने गये हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जिस के द्वारा शरीर सुन्दराकार हो अथवा असुन्दराकार आदि होने में कारण भूत

हो वही नाम कर्म है। यह नाम कर्म दो प्रकार का माना गया है। उन में से एक शुभ नाम कर्म और दूसरा अशुभ नाम कर्म है। मनुष्य शरीर देव शरीर सुन्दर अंगोपाङ्ग और वर्णादि वचन में मधुरता का होना, लोकप्रिय, यशस्वी तीर्थंकर आदि आदि का होना, आदि २ ये सब के सब शुभ नाम कर्म के फल हैं। नारकीय, तिर्यंच का शरीर धारण करना पृथ्वी पानी, वनस्पति, आदि में जन्म लेना, बेडौल अँगोपाङ्गों का पाना कुरूप और अयशस्वी होना। ये सब अशुभ नाम कर्म के फल हैं।

हे गौतम! शुभ अशुभ नाम कर्म कैसे बँधता है सो सुनो—मानसिक वाचिक और कायिक कृत्य की सरलता रखने से और किसी के साथ किसी भी प्रकार का बैर विरोध न करने व न रखने से शुभ नाम कर्म बंधता है। शुभ नाम कर्म के बंधन से विपरीत बर्ताव के करने से अशुभ नाम कर्म बँधता है।

हे गौतम! अब हम आगे गोत्र कर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

गोयकम्मं तु दुविहं उच्चं नीअं च आहियं।
उच्चं अट्ठ विहं होइ एवं नीअं वि आहियं ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (गोयकम्मं तु) गोत्र कर्म (दुविहं) दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है। (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (च) और (नीअं) नीच गोत्र कर्म (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (अट्ठविहं) आठ प्रकार का (होइ) है (नीअं वि) नीच गोत्र कर्म भी (एवं) इसी तरह आठ प्रकार का होता है ऐसा (आहियं) कहा गया है।

भावार्थः—हे गौतम! उच्च तथा नीच जाति के आदि मिलने में जो कारण भूत हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह

अत्यन्त लालसा रखना, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना तथा मांस खाना आदि ऐसे कार्यों से नरकायुष्य का बंध होता है। कपट करना, कपट पूर्वक फिर कपट करना, असत्य भाषण करना, नापने की वस्तुओं में और नापने की वस्तुओं में कमीवेशी लेना देना आदि ऐसे कार्यों के करने से तिर्यंचायुष्य का बंध होता है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रभाव होना, सब जीवों पर दया भाव रखना तथा ईर्षा नहीं करना आदि कार्यों से मनुष्यायुष्य का बंध होता है। सराग संयम व गृहस्थ धर्म के पालने, अज्ञानयुत तपस्या करने, बिना इच्छा से भूख प्यास आदि सहन करने तथा शील व्रत पालने से देवायुष्य का बंध होता है।

हे गौतम! अब हम आगे नाम कर्म [The 6th out of the 8 varieties of Karmas by which a soul acquires a name] का स्वरूप कहते हैं सो सुनो—

नामकम्मं तु दुविहं सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स य बहू भेया एमेव असुहस्स वि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (नामकम्मं तु) नाम कर्म तो (दुविहं) दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है। (सुहं) शुभ नाम कर्म (च) और (असुहं) अशुभ नाम कर्म जिस में (सुहस्स) शुभ नाम कर्म के (बहू) बहुत (भेया) भेद हैं। (य) और (असुहस्स वि) अशुभ नाम कर्म के भी (एमेव) इसी प्रकार अनेक भेद माने गये हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जिस के द्वारा शरीर सुन्दराकार हो अथवा असुन्दराकार आदि होने में कारण भूत

भावार्थ—हे गौतम ! जिस के उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आवे वह अन्तराय कर्म है। इस के पांच भेद हैं। दान देने की वस्तु के विद्यमान होते हुए भी, दान देने का अच्छा फल जानते हुए भी, जब दान नहीं दिया जाता है वह दानान्तराय है। व्यवहार में या माँगने में सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी जो प्राप्त न हो सके वह लाभान्तराय है। खान पान आदि की सामग्री के व्यवस्थित रूप से होने पर भी जो खा पी न सके, खा और पी भी लिया तो हज़म न किया जासके वह भोगान्तराय कर्म है। भोग पदार्थ वे हैं, जो एक बार काम में आते हैं। जैसे भोजन, पानी आदि। और जो बार बार काम में आते हैं उन्हें उपभोग माना गया है। जैसे वस्त्र आभूषण आदि अतः जिसके उदय से उपभोग की सामग्री व्यवस्थित रूप से स्वाधीन होते हुए भी अपने काम में न ली जा सके उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं। और जिस के उदय से युवान और बलवान् होते हुए भी कोई कार्य न किया जा सके, वह वीर्यान्तराय कर्म का फलादेश है।

हे गौतम ! यह अन्तराय कर्म निम्न प्रकार से बँधता है। दान देते हुए के बीच बाधा डालने से जिसे लाभ होता हो उसे धक्का लगाने से जो खा पी रहा हो या खाने, पीने का जो समय हुआ हो उसे टालने से जो उपभोग की सामग्री को अपने काममें ला रहा हो उसे अन्तराय देने से, तथा जो सेवा धर्म का पालन कर रहा हो उस के बीच रोड़ा अटकाने से आदि आदि कारणों से यह जीव अन्तराय कर्म बांध लेता है।

गोत्र कर्म उच्च नीच में विभक्त होकर चाठ प्रकार का होता है। उच्च जाति और उच्च कुल में जन्म लेना बलवान होना सुन्दराकार होना तपवान होना प्रत्येक व्यवहार में अर्थ प्राप्ति का होना विद्वान होना ऐश्वर्यवान् होना ये सब उच्च गोत्र के फल स्वरूप म होते हैं। और इन सब बातों के विपरीत जो कुछ है उसे नीच गोत्र कर्म का फल समझिए।

हे गौतम ! यह ऊँच नीच गोत्र कर्म इस प्रकार से बँधता है। स्वकीय माता के वंश का पिता के वंश का ताकत का रूप का तप का विद्वत्ता का और सुलभता से लाभ होने का घमण्ड न करने से उच्च गोत्र कर्म का बँध होता है। और इस के विपरीत अभिमान करने से नीच गोत्र का बँध होता है। हे गौतम ! अब अन्तराय कर्म [The eighth Variety f Karma (l tiny) which abstains charity profit infnt happin and power) का स्वरूप समझाते हैं।

> दाणे लाभे य भोगे य उवभोगे वीरिए तहा।
> पंचविहमन्तरायं, समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (अन्तरायं) अन्तराय कर्म (समासेण) संक्षेप से (पंचविहं) पाँच प्रकार का (वियाहियं) कहा गया है। (दाणे) दानान्तराय (य) और (लाभे) लाभान्तराय (भोगे) भोगान्तराय (य) और (उवभोगे) उपभोगान्तराय (तहा) वैसे ही (वीरिए) वीर्यान्तराय।

उदहिसरिसनामाण, सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्त जहणियया॥१८॥
तेत्तीस सागरोवम, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्त जहणियया॥१९॥
उदहिसरिसनामाण, वीसइ कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहणियया॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् अधिक से अधिक (सत्तरि) सत्तर (कोडिकोडीओ) कोड़ा कोड़ि (उदहिसरिस नामाणं) सागरोपम है। और (जहणियया) जघन्य (अन्तोमुहुत्तं) अन्तर्मुहूर्त्त और (आउकम्मस्स) आयुष्य कर्म की (उक्कोसेण) उत्कृष्ट स्थिति (तेत्तीस सागरोवम) तेंतीस सागरोपम की है। और (जहणियया) जघन्य (अन्तोमुहुत्त) अन्तर्मुहूर्त्त की और इसी प्रकार (नामगोत्ताणं) नाम कर्म और गोत्र कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट स्थिति (वीसइ) बीस (कोडिकोडीओ) कोड़ाकोड़ि (उदहिसरिसनामाणं) सागरोपम की है। और (जहणियया) जघन्य (अट्ठ) आठ (मुहुत्ता) मुहूर्त की (ठिई) स्थिति (वियाहिया) कही है।

भावार्थः—हे गौतम! मोहनीय कर्म की ज्यादा से ज्यादा स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम की है। और जघन्य (कम से कम) स्थिति अन्तर मुहूर्त्त की है। आयुष्य

हे गौतम ! अब इन चारों कर्मों की पृथक् पृथक् स्थिति कहता हूँ सुनो।

उदहीसरिसनामाणं तीसई कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्हंपि, वेयणिज्जे तहेव य ।
अंतराए य कम्मम्मि ठिई एसा वियाहिया ॥१७॥

अन्वयार्थ — हे इन्द्रभूति ! (दुण्हं पि) दोनों ही (आवरणिज्जाण) ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म की (तीसई) तीस (कोडिकोडीओ) कोटाकोटि (उदहिसरिसनामाणं) समुद्र के समान है नाम जिसका ऐसा सागरोपम (उक्कोसिया) ज्यादा से ज्यादा (ठिई) स्थिति (होइ) है (तहेव) वैसे ही (वेयणिज्जे) वेदनीय (य) और (अन्तराए) अन्तराय (कम्मम्मि) कर्म के विषय में भी (एसा) इतनी ही उत्कृष्ट स्थिति है और (जहन्निया) कम से कम चारों कर्मों की (अन्तोमुहुत्तं) अन्तरमुहूर्त (ठिई) स्थिति (वियाहिया) कही है।

भावार्थ — हे गौतम ! ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय ये चारों कर्म अधिक से अधिक रहें तो तीस कोड़ाकोड़ी (तीस क्रोड़ को तीस क्रोड़ से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे वह) सागरोपम की इन की स्थिति मानी गयी है। और कम से कम रहें तो अन्तर मुहूर्त की इन की स्थिति होती है।

पर (गहीए) पकड़ा जा कर (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ही (किच्चई) छेदा जाता है दुःख उठाता है (एवं) इसी प्रकार (पया) प्रजा अर्थात् लोक (पेच्चा) परलोक (च) और (इहलोए) इस लोक में किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा दुःख उठावेंगे। क्योंकि (कडाण) किये हुए (कम्माण) कर्मों को भोगे बिना (मुक्ख) कम रहित आत्मा (न) नहीं (अत्थि) होती है।

भावार्थः—हे गौतम! कर्म कैसे हैं? जैसे कोई अथवा चारी चोर खात के मुँह पर पकड़ा जाता है और अपने कर्मों के द्वारा कष्ट उठाता है अर्थात् प्राणान्त कर बैठता है। वैसे ही यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के द्वारा इस लोक और परलोक में महान् दुःख उठाती है। क्योंकि किये हुए कर्मों को भोगे बिना मोक्ष नहीं मिलती है।

संसारमावण्ण परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उर्वेति ॥ २३ ॥

---

(१) एक समय कई एक चोर चोरी करने को जा रहे थे। उन में एक सुतार भी शामिल हो गया। वे चोर एक नगर में एक धनाढ्य सेठ के यहाँ पहुँच वहाँ उन्होंने सेंध लगाया। सेंध लगाते लगाते दीवाल में काठ का एक पटिया दिख पड़ा था। वे चोर साथ के उस सुतार से बोले

कर्म के उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य अन्तर मुहूर्त की है। नाम कर्म एवं गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य आठ मुहूर्त की कही है।

एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं अहाकम्मेहिं गच्छइ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! यह आत्मा (एगया) कभी तो (देवलोएसु) देवलोक में (एगया) कभी (नरएसु वि) नरक में (एगया) कभी (आसुरं) भवनपति आदि असुर की (कायं) काया को प्राप्त होती है। (अहाकम्मेहिं) जैसे कर्म किये हैं उस के अनुसार यह (गच्छइ) जाती है।

भावार्थ—हे गौतम! आत्मा जब शुभ कर्म उपार्जन करती है तो वह देवलोक में जाकर उत्पन्न होती है यदि वह आत्मा अशुभ कर्म उपार्जन करती है तो नरक में जाकर घोर यातना सहती है। और कभी अज्ञान पूर्वक बिना इच्छा से क्रिया कायक्लेश करती है तो वह भवनपति आदि देवों में जाकर उत्पन्न होती है। इस से सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जैसा कर्म करती है वैसा स्थान पाती है।

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (पावकारी) पाप करने वाला (तेणे) चोर (संधिमुहे) खात के मुँह

भावार्थः—हे गौतम ! संसारी आत्मा ने दूसरों के तथा अपने लिए जो दुष्ट कर्म उपार्जन किये हैं वे कर्म जब उनके फल स्वरूप में आवेंगे उस समय जिन बन्धु बान्धवों और मित्रों के लिए तथा स्वतः के लिए वे दुष्कर्म किये थे वे कोई भी आकर पाप के फल भोगने में सम्मिलित नहीं होंगे।

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तस्स) उस पाप कर्म करने वाले के (दुक्खं) दुःख को (नाइओ) स्वजन वगैरह भी (न) नहीं (विभयंति) विभाजित कर सकते हैं और (न) नहीं (मित्तवग्गा) मित्रवर्ग (न) नहीं (सुया) पुत्र वर्ग (न) नहीं (बंधवा) बन्धुजन कर्मों के फल से बचा सकते हैं। (इक्को) वही अकेला (दुक्खं) दुःख को (पच्चणुहोइ) भोगेगा। क्योंकि (कम्मं) कर्म (कत्तारमेव) करने वाले ही के साथ (अणुजाइ) जावेगा।

भावार्थः—हे गौतम ! किये हुए कर्मों का जब उदय होता है। उस समय ज्ञाति जन मित्र लोग पुत्रवर्ग बन्धु जन आदि कोई भी उन में किसी भी तरह की कमी नहीं कर सकते हैं। जिस आत्माने कर्म किये हैं वही आत्मा अकेली उसका फल भी भोगेगी। यहां से मरने पर किये हुए कर्म करने वाले के साथ ही जाते हैं।

(जहा) जैसे (बलागप्पमवं) बगुली से अंडा उत्पन्न हुआ (एमेव) इसी तरह (खु) निश्चय कर के (मोहाययणं) मोहका स्थान (तण्हा) तृष्णा (च) और (तण्हाययणं) तृष्णा का स्थान (मोह) मोह है ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थ —हे गौतम ! जैसे अण्डे से बगुली (मादा बगुला) उत्पन्न होती है और बगुली से अण्डा पैदा होता है। इसी तरह से मोह कर्म से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है। हे गौतम ! ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

> रागो य दोसो वि य कम्मबीयं
> कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
> कम्मं च जाई मरणस्स मूलं,
> दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! (रागो) राग (य) और (दोसो वि य) द्वेष ये दोनों भी (कम्मं बीयं) कर्म उत्पन्न होने में कारण भूत हैं (च) और (मोहप्प भवं) मोह से उत्पन्न होते हैं। (कम्मं) कर्म ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं। (च) और (जाईमरणस्स) जन्म मरण का (मूलं) मूल कारण (कम्मं) कर्म है (च) और (जाईमरणं) जन्म मरण ही (दुक्खं) दुःख है ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थ।—हे गौतम ! जितने भी कर्म होते हैं। सब के सब राग द्वेष से उत्पन्न होते हैं। और राग द्वेष ये दोनों

।न्यथा दुपय च चउप्पय च,
        गित्त गिह धणधन्न च सव्व ।
सकम्म बीयो अवसो पयाइ,
        प भय सुन्दर पावगं वा ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (सकम्मप्पबीओ) आत्मा का दूसरा साथी उसके अपने किए हुए कर्म ही है। इसी से (अवस) परवश होता हुआ यह जीव (सव्व) सब (दुपद) स्त्री पुत्र दास दासी आदि (च) और (चउप्पय) हाथी घोड़े आदि (च) और (खित्त) खेत वगैरह (गिह) घर (धण) रुपया पैसा सिक्का वगैरह (धन्न) धान्य वगैरह को (चिच्चा) छोड़ कर (सुन्दर) स्वर्गादि उत्तम (वा) अथवा (पावगं) नरकादि अधम देसे (परभव) परभव को (पयाइ) जाता है।

भावार्थ—हे गौतम ! स्वकृत कर्मों के आधीन होकर यह आत्मा स्त्री पुत्र हाथी घोड़े खेत घर रुपया पैसा धान्य और सुवर्ण आदि सभी को मृत्यु की गोद में छोड़ कर अपने शुभाशुभ कर्म इस के द्वारा किये होते हैं उन के अनुसार स्वर्ग तथा नरक में जाकर उत्पन्न होती है।

जहा य अण्डप्पभवा बलागा
        अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेय मोहाययणं खु तण्हा,
        मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (जहा य) जैसे (अण्डप्पभवा) अण्डा से बगुली उत्पन्न हुई (य) और

तीसरा ऽध्याय

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कम्माण तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिं मणुप्पत्ता आययंते मणुस्सयं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (आणुपुव्वी) अनुक्रम से (कम्माणं) कर्मों की (पहाणाए) न्यूनता होने पर (कयाइ उ) कभी (जीवा) जीव (सोहिमणुप्पत्ता) कर्मों से शुद्धता प्राप्त कर (मणुस्सयं) मनुष्यत्व को (आययंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जब यह जीव अनेक जन्मों में दुःख सहन करता हुआ धीरे धीरे मनुष्य जन्म के बाधक कर्मों को नष्ट कर देता है। तब कहीं कर्मों के भार से हलका होकर मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है।

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया।
उविंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जे) जो (नरा) मनुष्य (वेमायाहिं) विविध प्रकार की (सिक्खाहिं) शिक्षाओं को (गिहि सुव्वया) गृहस्थावास में सुव्रतों अणुव्रतों का आचरण करने वाले हों वे मनुष्य फिर (माणुसं) मनुष्य (जोणिं) योनि हीं

मोह से उत्पन्न होते हैं। जन्म मरण का मूल कारण कर्म है और जन्म मरण ही दुःख है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जस्स) जिसके (मोहो) मोह कर्म (न) नहीं (होइ) है उसने (दुक्खं) दुःख को (हयं) नष्ट कर डाला (जस्स) जिसके (तण्हा) तृष्णा (न) नहीं (होइ) है उसने (मोहो) मोह कर्म को (हओ) नष्ट कर डाला (जस्स) जिसके (लोहो) लोभ कर्म (न) नहीं (होइ) है उसने (तण्हा) तृष्णा (हया) नष्ट कर डाली और (जस्स) जिसको (किंचणाइं) धन में ममत्व (न) नहीं है उसने (लोहो) लोभ कर्म को (हओ) नष्ट कर डाला है।

भावार्थः—हे गौतम! जिसने मोह कर्म को जीत लिया है वह दुःखों के समुद्र से सचमुच में पार पा गया है। और जिसने तृष्णा को वश में कर ली है मोह कर्म उसके कभी पास तक नहीं फटकता है। जिसने लोभ को छोड़ दिया है उस से तृष्णा भी भाग निकली है। और जिसने धन पर से ममत्व हटा लिया है उसका लोभ नष्ट हो गया है ऐसा समझो।

इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य द्वितीयोऽध्यायः

भावार्थः—हे गौतम ! जिस समय मनुष्य की जितनी आयु हो उतनी आयु को दश भागों में बाँटने से दश अवस्थाएँ होती हैं। जैसे सौ वर्ष की आयु हो तो दश वर्षों की एक अवस्था, यों दश दश वर्षों की दश अवस्थाएँ हैं। प्रथम बाल्यावस्था [The 1st stage out of the 10 stages of a man who is hundred years old when he is out influenced by the delusion of the world or resolutions] है कि जिस में खाना पीना, कमाना रूप आदि सुख दुख का प्राय: भान नहीं रहता है। दश वर्ष से बीस वर्ष तक खेलने कूदने की प्राय धुन रहती है। इसलिये दूसरी अवस्था का नाम क्रीडावस्था है। बीस वर्ष से तीस वर्ष तक अपने गृह में जो काम भोगों की सामग्री छुटी हुई है। बस उसी को भोगते रहना और नवीन अर्थ सम्पादन करने में प्राय: बुद्धि की मन्दता रहती है। इसी से तीसरी मन्दावस्था है। तीस से चालीस वर्ष पर्यंत यदि वह स्वस्थ रहे तो उस हालत में वह कुछ बली दिखलाई देता है। इसी से चौथी बलावस्था [The fourth stage of the 10 stages of a man which ranges from 31st to 40 th years when his full physical power comes out] कही गयी है। चालीस से पचास वर्ष तक इच्छित अर्थ का सम्पादन करने के लिये तथा कुटुम्ब वृद्धि के लिए खूब बुद्धि का प्रयोग करता है इसी से पाँचवी प्रज्ञावस्था है। ५० से ६० वर्ष तक जिस में इन्द्रिय जन्य विषय ग्रहण करने में कुछ हीनता आजाती है। इसी लिए छठी हायनी अवस्था है। साठ से सत्तर वर्ष तक बार बार कफ निकालने थूकने और

से (उन्नति) प्राप्त करता है। (हु) क्योंकि (पाणिणो) प्राणी (कम्मसच्चा) सत्य कर्म करने वाले हैं अर्थात् जैसे कर्म वह करता है वैसी ही उसकी गति होती है।

भावार्थ : हे गौतम ! कौन मनुष्य मर कर पुनः मनुष्य जन्म में पैदा होता है ? जो नाना प्रकार के त्याग धर्म को धारण करता है। प्रत्येक के साथ निष्कपट व्यवहार करता है वही पुनः मनुष्य भव को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जैसा कर्म वह करता है उसी के अनुसार गति मिलती है।

बाला किड्डा य मंदा य बला पन्ना य हायणी।
पवंचा पब्भारा य मुम्मुही सायणी तहा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति ! मनुष्य की दश अवस्थाएँ हैं। प्रथम (बाला) बाल अवस्था (य) और (किड्डा) क्रीडावस्था (मंदा) व्यापारादि कार्य कुशलता में मन्द होने से मन्दावस्था (बला) चौथी बलावस्था (य) और (पन्ना) पाँचवीं प्रज्ञावस्था । अब इन्द्रिय हीन होने से छठी (हायणी) हायनी अवस्था कफ आदि अधिक निकलने का प्रपंच हो जाता है। इसी से सातवीं (पवंचा) प्रपंचावस्था (य) और कुछ शरीर झुक जाता है। इसलिये आठवीं (पब्भारा) प्राग्भारावस्था। जीव को परभव के लिए सम्मुख होती है। इसी से नौवीं (मुम्मुही) मुम्मुखी अवस्था (तहा) वैसी ही प्रायः दिन भर सोते रहने से मनुष्य की दसवीं अवस्था (सायणी) शायनी अवस्था होती है।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अहिंसा) जीव दया (संयम) यत्ना और (तवो) तप रूप (धम्मो) धर्म (उक्किट्ठं) सब से अधिक (मंगल) मंगल मय है। इस प्रकार के (धम्मे) धर्म में (जस्स) जिसका (सया) हमेशा (मणो) मन है (तं) उसको (देवा वि) देवता भी (नमंसंति नमस्कार करते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! किञ्चिन्मात्र भी जिस में हिंसा नहीं है ऐसी अहिंसा और मन वचन काया के अशुभ योगों का घातक तथा पूर्वकृत पापों का नाश करने में अग्रसर ऐसा तप ये ही जगत में प्रधान और मंगल मय धर्म के अंग हैं। बस एक मात्र इसी धर्म को हृदयंगम करने वाला मानव शरीर देवों से भी सदैव पूजित होता है तो फिर मनुष्यों द्वारा वह पूजित दृष्टि से देखा जाय इस में आश्चर्य ही क्या है?

मूला उ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छासमुवेंति साहा
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो अ ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूते ! (दुमस्स) वृक्ष के (मूलाउ) मूल से (खंधप्प भवो) स्कन्ध अर्थात् पींड" पैदा होता है (पच्छा) पश्चात् (खंधाउ) स्कंध से (साहा) शाखा (समुवेंति) उत्पन्न होती है। और (साहप्पसाहा) शाखा प्रतिशाखा से (पत्ता) पत्ते (विरुहंति) पैदा होते हैं। (तओ) उसके बाद (से) यह वृक्ष (पुप्फं) फूलदार

लावन का प्रपत्र पग जाता है। इसी से सातवीं अवस्था प्रपत्र है। शरीर पर सलवट पड़ जाते हैं। और शरीर भी कुछ झुक जाता है इसी से सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था को प्राग्भार अवस्था कहते हैं। नौवीं अस्सी से नब्बे वर्ष तक मुम्मुखी अवस्था में जीव जरारूप राक्षसी से पूर्ण रूप से घिर जाता है। या तो इसी अवस्था में परलोक गमन कर जाता और यदि जीवित रहा तो एक मृतक के समान है। नब्बे से सौ वर्ष तक प्रायः दिन रात सोते रहना ही अच्छा लगता है। इसलिए दशवीं शायनी अवस्था कही जाती है।

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (माणुस्सं) मनुष्य के (विग्गहं) शरीर को (लद्धुं) प्राप्त कर (धम्मस्स) धर्म का (सुई) श्रवण करना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (जं) जिसको (सोच्चा) सुनने से (तवं) तप करने की (खंतिमहिंसयं) तथा क्षमा और अहिंसा के पालन करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

भावार्थ—हे गौतम! दुर्लभ मानव देह को पा भी लिया तो भी धर्म श्रवण का अवसर मिलना महान् दुर्लभ है। जिस के सुनने मात्र से तप क्षमा अहिंसा आदि करने की प्रबल इच्छा जाग उठती है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥ ५ ॥

मिलना महान् कठिन है। गौतम! सर्वों के लिए विनय आदरणीय है। जिस से उस की कीर्ति फैलती है और ज्ञान को प्राप्त करने में सम्पूर्ण यश का पात्र बन जाता है।

अणुसट्ठंपि बहुविहं, मिच्छदिट्ठिया जे नरा अबुद्धीया
बद्धनिकाइय कम्मा,सुणंति धम्मं न परं करेंति ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (बहुविहं) अनेक प्रकार से (धम्मं) धर्म को (अणुसट्ठंपि) शिक्षित गुरु के द्वारा प्राप्त होने पर भी (बद्धनिकाइय कम्मा) बँधे हैं निकाचित कर्म जिसके ऐसे (अबुद्धीया) बुद्धि रहित (मिच्छा दिट्ठिया) मिथ्या दृष्टि (नरा) मनुष्य (जे) वे केवल (धम्मं) धर्म को (सुणंति) सुनते हैं (परं) परन्तु (न) नहीं (करेंति) अनुकरण करते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! गृहस्थ धर्म और चरित्र धर्म जिसको शिक्षित गुरु के द्वारा विस्तारपूर्वक होने पर भी निकाचित कर्म बँध जाने से बुद्धि रहित मिथ्या दृष्टि जो मनुष्य हैं वे केवल उन धर्मों को सुन कर ही रहजाते हैं। परन्तु उनके अनुसार अपने कर्तव्य को नहीं बना सकते हैं।

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति,ताव धम्मं समायरे॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जाव) जहां तक (जरा) वृद्धावस्था (न) नहीं (पीडेइ) सताती और (जाव) जहां तक (वाही) व्याधि (न) नहीं (वड्ढइ) बढ़ती और (जाविंदिया) जब तक इन्द्रियाँ (न) नहीं (हायंति) शिथिल होतीं (ताव) तब तक (धम्मं) धर्म को (समायरे) अंगीकार करना।

(य) और (फले) फलवाला (य) और (रसो) रस वाला बनता है।

भावार्थ : हे गौतम ! वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है। तदनन्तर स्कन्ध से शाखा प्रति शाखा उसके बाद शाखा में पत्ते उत्पन्न होते हैं। अन्त में वह वृक्ष फूलवाला फलवाला व रस वाला होता है।

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥

अन्वयार्थ : हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (धम्मस्स) धर्म का (परमो) मुख्य (मूलं) जड़ (विणओ) विनय है। फिर उस से क्रमशः आगे (से) वह (मुक्खो) मुक्ति है। इस लिए पहले विनय आदरणीय है। (जेण) जिससे वह (कित्तिं) कीर्ति को (अभिगच्छइ) प्राप्त होता है। (च) और (सुयं) श्रुत ज्ञान रूप (सिग्घं) प्रशंसा को (नीसेसं) सम्पूर्ण रूप प्राप्त करता है।

भावार्थ : हे गौतम ! जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ के द्वारा क्रमपूर्वक रसवाला होता है। उसी प्रकार धर्म की जड़ भी विनय धर्म है। विनय धर्म के पश्चात् ही स्वर्ग शुक्लध्यान क्षपक श्रेणी [The spiritual evolution of a soul made by destroying the different Karmas in succession] आदि उत्तरोत्तर गुण के साथ रसवान वृक्ष के समान आत्मा मुक्ति रूपी रस को प्राप्त कर लेती है। जब मूल ही नहीं है तो शाखा पत्ते फूल फल रस कहाँ से होंगे। ऐसे ही जब विनय धर्म रूप मूल ही नहीं हो तो मुक्ति का

भावार्थ हे गौतम ! रात और दिन का जो समय जा रहा है। वह पुनः लौट कर किसी भी तरह नहीं आ सकेगा। ऐसा समझ कर जो धार्मिक जीवन बिताते हैं उनका समय (जीवन) सफल है।

सोही उज्जुअ भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व्व पावए ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उज्जुअ भूयस्स) सरल स्वभावी का हृदय (सोही) शुद्ध होता है। उस (सुद्धस्स) शुद्ध हृदय वाले के पास (धम्मो) धर्म (चिट्ठइ) स्थिरता से रहता है। जिस से वह (परमं) प्रधान (णिव्वाणं) मोक्ष को (जाइ) जाता है। (व्व) जैसे (पावए) अग्नि में (घयसित्ते) घी सींचने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। ऐसे ही आत्मा भी बलवती होती है।

भावार्थः—हे गौतम ! स्वभाव को सरल रखने से आत्मा कषायादि से रहित हो कर (शुद्ध) निर्मल हो जाती है। उस शुद्धात्मा के धर्म की भी स्थिरता रहती है। जिस से उसकी आत्मा जीवन मुक्त हो जाती है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह भभक उठती है उसी तरह आत्मा के कषायादिक आवरण दूर हो जाने से वह भी अपने केवल ज्ञान के गुणों से देदीप्यमान हो उठती है।

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गइ सरणमुत्तमं ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जरामरणवेगेणं) जरा मृत्यु रूप जल के वेग से (वुज्झमाणाण) डूबते हुए (पाणिणं) प्राणियों का (धम्मो) धर्म (पइट्ठा) निश्चल

अध्याय चौथा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (णरगा) नरकीय जीव (णरए) नरक में (गम्मंति) जाते हैं। (जे) वे (णरगा) नारकीय जीव (जा) नरक में उत्पन्न हुई (वेयणा) वेदना को सहन करते हैं। इसी तरह (तिरिक्खजोणीए) तिर्यञ्च योनियों में आनेवाली आत्माएँ भी (सारीरमाणसाइं) शारीरिक, मानसिक (दुक्खाइं) दुःखों को सहन करती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार नरक में जाने वाले जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक में उत्पन्न होने वाली महान् वेदना को सहन करते हैं उसी तरह तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने वाली आत्माएं भी कर्मों के फल रूप में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन करती हैं।

माणुस्सं च अणिच्चं वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥ २ ॥

आधार भूत (गई) स्थान (य) और (उत्तमं) प्रधान (शरणं) शरण रूप (दीवो) द्वीप है।

भावार्थ—हे गौतम ! जन्म जरा मृत्यु रूप जल के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही। जिसका आधार भूत स्थान और उत्तम शरणागत रूप एक द्वीप के समान है।

एस धम्मे धुवे णितिए सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेण सिज्झिस्संति तहावरे ॥ ४०

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जिणदेसिए) तीर्थंकरों के द्वारा कहा हुआ (एस) यह (धम्मे) धर्म (धुवे) ध्रुव है (णितिए) नित्य है (सासए) शाश्वत है (अणेणं) इस धर्म के द्वारा अनन्त जीव भूत काल में सिद्ध हुए हैं (च) और वर्तमान काल में (सिज्झंति) सिद्ध हो रहे हैं (तहा) उसी तरह (अवरे) भविष्यत काल में भी सिद्ध होंगे।

भावार्थ—हे गौतम ! पूर्व ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ यह धर्म ध्रुव के समान है। तीन काल में नित्य है। शाश्वत है। इसी धर्म को अङ्गीकार कर के अनंत जीव भूत काल में कर्मों के बंधन से मुक्त हो कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। वर्तमान काल में हो रहे हैं। और भविष्यत काल में भी इसी धर्म का सेवन करते हुए अनंत जीव मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य तृतीयोऽध्यायः

जो पुण्य उपार्जन करती है वे मनुष्य जन्म एवं देव गति में जाती है। और जो पृथ्वी, अप, तेज वायु तथा वनस्पति के जीवों की तथा हिलते फिरते त्रस जीवों की सम्पूर्ण रक्षा कर आठ कर्मों का चूर चूर कर देने में समर्थ होती हैं, वे आत्माएँ, सिद्धालय में सिद्ध अवस्था को प्राप्त होती हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

जह जीवा बज्झंति,मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति ।
जह दुक्खाण अंतं, करेंति केइ अपडिबद्धा ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (केई) कई (जीवा) जीव (बज्झंति) कर्मों से बँधते हैं वैसे ही (मुच्चंति) मुक्त भी होते हैं (य) और (जह) जैसे कर्मों की वृद्धि होने से (परिकिलिस्संति) महान् कष्ट पाते हैं। वैसे ही (दुक्खाण) दुःखों का (अंतं) अन्त भी (करेंति) कर डालते हैं। ऐसा (अपडिबद्धा) अप्रतिबद्ध विहारी निर्ग्रन्थों ने कहा है।

भावार्थः—हे गौतम ! यही आत्मा कर्मों को बाँधती है और यही कर्मों से मुक्त भी होती है। यही आत्मा कर्म का गाढ़ लेप करके दुःखी होती है और सदाचार सेवन से सम्पूर्ण कर्मों को नाश करके मुक्ति के सुखों का सोपान भी यही आत्मा तैयार करती है। ऐसा निर्ग्रन्थों का प्रवचन है।

अट्टदुहट्टिय चित्ता जह, जीवा दुक्खसागरमुर्वेति ।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्ग विहाडेंति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (माणुस्सं) मनुष्य जन्म (अणिच्चं) अनित्य है (च) और वह (वाहिजरामरणवेयणापउरं) व्याधि जरा मरण रूप प्रचुर वेदना से युक्त है (य) और (देवलोए) देव लोक में (देवे) देवगण अपने कृत पुण्यों से (देविड्ढि) देव ऋद्धि और (देवसोक्खाई) देवता सम्बन्धी सुखों को भोगते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! मनुष्य जन्म जो है वह अनित्य है। साथही में जरामरण आदि व्याधि की प्रचुरता से भरा पड़ा है। और पुण्य उपार्जन कर जो स्वर्ग में गये हैं वे वहां अपनी ऋद्ध आदि और देवता संबंधी सुखों को भोगते हैं परन्तु आ खिर में वे भी वहां से चवते हैं।

णरग तिरिक्खजोणिं माणुसभवं च देवलोगं च।
सिद्धिं सिद्धवसहिं छज्जीवणियं परिकहेइ ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो जीव पाप कर्म करते हैं व (णरगं) नरक को और (तिरिक्खजोणिं) तिर्यंच योनि को प्राप्त होते हैं। और जो पुण्य उपार्जन करते हैं वे (माणुसभवं) मनुष्य भव को (च) और (देवलोगं) देवलोक को पाते हैं (च) और जो (छज्जीवणियं) षट् काय के जीवों की रक्षा करते हैं वह (सिद्धवसहिं) सिद्धावस्था को प्राप्त करके अर्थात् सिद्धि गति में जाकर (सिद्धिं) सिद्ध होते हैं। ऐसा सभी तीर्थंकरों ने (परिकहेइ) कहा है।

भावार्थः—हे आर्य ! जो आत्मा पाप कर्म उपार्जन करती हैं वे नरक और तिर्यंच योनियों में जन्म लेती हैं।

काल में फल भी उसका चलती है वैसे ही सदाचारों से जन्म जन्मांतरों के कृत कर्मों का सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर डालती है। और फिर वही सिद्ध हो कर सिद्धालय को भी प्राप्त हो जाती है।

आलोयण निरवलावे; आवई सुदढ धम्मया।
अणिस्सिउवहाणे य सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥७॥

अन्वयार्थ:-हे इन्द्रभूति! (आलोयणा) आलोचना करना (निरवलावे) की हुई आलोचना अन्य के सम्मुख नहीं करना (आवई) आपदा आने पर भी (सुदढधम्मया) धर्म में दृढ़ रहना (अणिस्सिउवहाणे) बिना किसी चाह के उपधान तप करना (सिक्खा) शिक्षा ग्रहण करना (य) और (निप्पडिकम्मया) शरीर की शुश्रूषा नहीं करना।

भावार्थ-हे गौतम! जानते में या अजानते में किसी भी प्रकार दोषों का सेवन कर लिया हो तो उसको अपने आचार्य के सम्मुख प्रकट करना और आचार्य उसके प्राय श्चित रूप में जो भी दण्ड दें उस सहर्ष ग्रहण कर लेना अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए पुनः उस बात को दूसरों के सम्मुख नहीं कहना, और अनेक आपदाओं के आवश क्यों न उमड आवें मगर धम से एक पैर भी पीछे न हटना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखों की इच्छा रहित उपधान तप प्रत करना सूत्रार्थ ग्रहण रूप शिक्षा धारण करना और कामभोगों के निमित्त शरीर की शुश्रूषा भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! जो (जीवा) जीव वैराग्य भाव में रहित हैं व (अट्टदुहट्टिय) आर्त रौद्र ध्यान से (चित्ता) विकल्प चित्त हो (जह) जैसे (दुक्खसागरं) दुःख सागर को (उवेन्ति) प्राप्त होते हैं। वैसे ही (वरग्गं) वैराग्य को (उवगया) प्राप्त हुए जीव (कम्मसमुग्गं) कर्म समूह को (विहाडंति) नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्माएं वैराग्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुई हैं सांसारिक भोगों में फंसी हुई हैं वे आर्त रौद्र ध्यान को ध्याती हुई मानसिक कुभावनाओं के द्वारा अशिष्ट कर्मों का संचय करती हैं। और जन्म जन्मान्तर के लिए दुःख सागर में गोता लगाती हैं। जिन आत्माओं की रग रग में वैराग्य रस भरा पड़ा है वे सब बातों के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को बात की बात में नष्ट कर डालती हैं।

जह रागेण कडाणं कम्माणं, पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे यह जीव (रागेण) राग द्वेष के द्वारा (कडाणं) किये हुए (पावगो) पाप (कम्माणं) कर्मों के (फलविवागो) फलादय को भोगता है। वैसे ही शुभ कर्मों के द्वारा (परिहीणकम्मा) कर्मों को नष्ट करने वाले जीव (सिद्धा) सिद्ध होकर (सिद्धालयं) सिद्धस्थान को (उवेंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः—हे आर्य ! जिस प्रकार यह आत्मा राग द्वेष करके कर्म उपार्जन कर लेती है और उन कर्मों के उदय

रोकना, (अप्पदोसोवसंहारे) अपनी आत्मा के दोषों का संहारण करना, (य) और (सव्वकामविरत्तया) सर्व विषयों से विरक्त रहना।

भावार्थः-हे गौतम! दीन हीन वृत्ति से सदा विमुख रहना संसार के विषयों से उपरत हो कर मोक्ष की इच्छा को हृदय में धारण करना मन वचन काया के अशुभ व्यापार हैं को रोक रखना, सदाचार सेवन में रत रहना हिंसा झूठ, चोरी, संग ममत्व के द्वारा आते हुए पापों को रोकना आत्मा क दोषों को ढूंढ ढूंढ कर संहारण करना और सब तरह की कुवासनाओं से अलग रहना।

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमादे लवालवे।
ज्झाणे संवर जोगे य, उदए मारणंतिए ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (पच्चक्खाणे) त्यागों की वृद्धि करना (विउस्सग्गे) उपाधि से रहित होना (अप्पमादे) प्रमाद रहित रहना (लवालवे) अनुष्ठान करते रहना (ज्झाणे) ध्यान करना (संवर जोगे) सम्वर का व्यापार करना (य) और (मारणंतिए) मारणांतिक कष्ट होने पर भी (उदए) क्षोभ नहीं करना।

भावार्थः-हे गौतम! त्याग धर्म की वृद्धि करते रहना उपाधि से रहित हो । गर्व का परित्याग करना सत्य मार्ग के लिए भी प्रमाद न करना सदैव अनुष्ठान करते रहना, सिद्धान्तों के गम्भिर आशयों पर विचार करते रहना शुभ

अणायया असामेय, तितिक्खा अज्जवे सुह।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ :–हे इन्द्रभूति ! (अणायया) दूसरों को कहे बिना ही तप करना (असोमे) क्षोम नहीं करना (तितिक्खा) परिषहों को सहन करना (अज्जवे) निष्कपट रहना (सुइ) सत्य से सुचिता रखना (सम्मदिट्ठी) श्रद्धा का शुद्ध रखना (य) और (समाही) स्वस्थ चित रहना (आयारे) सदाचारी हो कर कपट न करना (विणओवए) विनयी हो कर कपट न करना।

भावार्थः–हे गौतम ! तप मत धारण करके यश के लिए दूसरों का न कहना इच्छित वस्तु पा कर उस पर क्षोम न करना देश मशकादि कों का परिषह उत्पन्न हो तो उसे सहर्ष सहन करना निष्कपटता पूर्वक अपना सारा व्यवहार रखना सत्य संयमों द्वारा सुचिता रखना श्रद्धा में विपरीतता न आने देना स्वस्थ चित्त हो कर अपना जीवन बिताना आचारवान हो कर कापट्यपन न दिखाना और विनयी हो कर कपट न करना।

धिईमई य संवेगे पणिही सुविही संवरे।
अत्तदोसोवसंहारे सव्वकाम विरत्तया ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (धिईमई) अदीन वृत्ति से रहना (संवेगे) संसार से उपराम हो कर रहना (पणिहि) मायादि के महान दोषों को रोकना (सुविही) सदाचार का सेवन करना। (संवरे) पापों के कारणों को

का गुण कीर्तन करता हो (य) और (अभिक्खणं) क्षण क्षण में (णाणोवओगे) ज्ञान उपयोग आदि से जो युक्त हो।

भावार्थः हे गौतम ! जो रागादि दोषों से रहित हैं, जिन्होंने घनघाती कर्मों को जीत लिया है, वे अरिहंत हैं। जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को जीत लिया है, वे सिद्ध हैं। अहिंसामय सिद्धान्त और पँच महाव्रतों को पालने वाले गुरु हैं। ये और स्थविर बहुश्रुत तपस्वी इन सभी में वात्सल्य भाव रखता हो इन के गुणों का हर जगह प्रचार करता हो और इसी तरह ज्ञान के ध्यान में बराबर लीन रहता हो।

दंसण विणए आवस्सए सीलव्वए निरइयार।
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥ १२ ॥

पदच्छान्वयः-हे इन्द्रभूति ! (दंसण) शुद्ध श्रद्धा रखता हो (विणए) विनयी हो (आवस्सए) आवश्यक-प्रतिक्रमण दोनों समय करता हो (निरइयारं) दोष रहित (सीलव्वए) शीलव्रत को जो पालता हो (खणलव) धर्मध्यान ध्याता हो अर्थात् सुपात्र को दान देने की भावना रखता हो (तव) तप करता हो (च्चियाए) त्याग करता हो (वेयावच्चे) सेवा भाव रखता हो (य) और (समाही) स्वस्थ चित्त से रहता हो।

भावार्थः-हे गौतम ! जो शुद्ध श्रद्धा का अवलम्बी हो नम्रता ने जिस के हृदय में निवास कर लिया हो, दोनों

पाणाइवायमलियं, चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं ।
कोहं माणं मायं लोभं पिज्जं तहा दोसं ॥ १५ ॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं ।
परपरिवायं माया,-मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ –हे इन्द्रभूति ! (पाणाइवायं) प्राणातिपात-हिंसा (अलियं) झूठ (चोरिक्कं) चोरी (मेहुणं) मैथुन (दवियमुच्छं) द्रव्य में मूर्छा (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) माया (लोभं) लोभ (पिज्जं) राग (तहा) तथा (दोसं) द्वेष (कलहं) कलह (अब्भक्खाणं) कलंक (पेसुन्नं) चुगली (परपरिवायं) परापवाद (रइअरइ) अधर्म में आनंद और धर्म में अप्रसन्नता (मायामोसं) कपट युक्त झूठ (च) और (मिच्छत्तसल्लं) मिथ्यात्व रूप शल्य इस प्रकार अठारह पापों का स्वरूप ज्ञानियों ने (समाउत्तं) अच्छी तरह कहा है ।

भावार्थः–हे गौतम ! प्राणियों के दश प्राणों में से किसी भी प्राण को हनन करना मन वचन काया से दूसरों के मन तक को भी दुखाना हिंसा है। इसी हिंसा से यह आत्मा मलीन होती है। इसी तरह झूठ बोलने से चोरी करने से, मैथुन सेवन से वस्तु पर मूर्छा रखने से क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष, करने से और परस्पर लड़ाई–झगड़ा करने से किसी निर्दोषी पर कलंक का आरोप करने से किसी की चुगली खाने से दूसरों के अवगुणावाद बोलने से और इसी तरह अधर्म में प्रसन्नता रखने से और धर्म में अप्रसन्नता दिखाने से दूसरों को ठगने के लिए कपट

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (मिउलेवालित्त) मिट्टी के लेपसे लिपटा हुआ वह (गरुयं) भारी (तुंबं) तूँबा (अहो) नीचा (वयइ) जाता है। (एवं) इसी तरह (आसवकयकम्मगुरु) आस्रव कृत कर्मों द्वारा भारी हुआ (जीवा) जीव (अहरगई) अधोगति को (वयंति) जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जैसे मिट्टी का लेप लगने से तूँबा भारी हो जाता है, अगर उसको पानी पर रख दिया जाय तो वह उस तह तक नीचा ही जाता जायगा। ऊपर कभी नहीं उठेगा। इसी तरह हिंसा झूँठ चोरी, मैथुन और मूर्छा आदि आस्रव-रूप कर्म कर लेने से यह आत्मा भी भारी हो जाती है। और यही कारण है कि तब यह आत्मा अधोगति को अपना स्थान बना लेती है।

तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभाय।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तं चेव) जब वह तूँबा (तव्विमुक्कं) उस मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर (जायलहु भाव) हलका हो जाता है, तब वह (जलोवरिं) जल के ऊपर (ठाइ) ठहरा हुआ रह सकता है। इसी तरह (जहतह) जैसे तैसे (कम्मविमुक्का) कर्म से मुक्त हुआ जीव (लोयग्गपइट्ठिया) लोक के अग्रभाग पर स्थित (होंति) होते हैं।

पूर्वक मैथुन का व्यवहार करने से और मिथ्यात्व रूप शल्य के द्वारा पीड़ित रहने से अर्थात् विपरीत देव गुरु धर्म के मानने से आदि इन्हीं अठारह प्रकार के पापों से अकार्यी हुई यह आत्मा नाना प्रकार के दुःख उठाती हुई चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करती रहती है।

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (सत्तविहं) सात प्रकार का (आउं) आयु (भिज्जए) टूटता है। (अज्झवसाणनिमित्ते) भयात्मक अध्यवसाय और दण्ड-लकड़ी-कशा चाबुक शस्त्र आदि निमित्त (आहारे) अधिक आहार (वेयणा) शारीरिक वेदना (पराघाते) खड्डे आदि में गिरने के निमित्त (फासे) सर्पादिक का स्पर्श (आणापाणू) उच्छ्वास निश्वास का रोकना आदि कारणों से आयु का क्षय होता है।

भावार्थः—हे आर्य! सात कारणों से आयु की क्षीणता होती है। वे यों हैं—राग स्नेह भय पूर्वक अध्यवसाय के आने से दंड (लकड़ी) कशा (चाबुक) शस्त्र आदि के प्रयोग से अधिक भोजन कर लेने से नेत्र आदि की अधिक व्याधि होने से खड्डे आदि में गिर जाने से और उच्छ्वास निश्वास के रोक देने से।

जह मिउलेवालित्तं गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं।
आसवकयकम्मगुरू जीवा, वच्चंति अहरगइं ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जह) जैसे (मिउलेवालित्तं) मिट्टी के लेपसे लिपटा हुआ वह (गरुयं) भारी (तुंबं) तूँबा (अहो) नीचा (वयइ) जाता है। (एवं) इसी तरह (आसवकयकम्मगुरु) आश्रव कृत कर्मों द्वारा भारी हुआ (जीवा) जीव (अहरगई) अधोगति को (वच्चंति) जाते हैं।

भावार्थ-हे गौतम! जैसे मिट्टी का लेप लगने से तूँबा भारी हो जाता है, अगर उसको पानी पर रख दिया जाय तो वह उस तह तक नीचा ही जाता जायगा। ऊपर कभी नहीं उठेगा। इसी तरह हिंसा झूँठ चोरी, मैथुन और मूर्छा आदि आश्रव-रूप कर्म कर लेने से यह आत्मा भी भारी हो जाती है। और यही कारण है कि तब यह आत्मा अधोगति को अपना स्थान बना लेती है।

तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (तं चेव) जब वह तूँबा (तव्विमुक्कं) उस मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर (जायलहुभाव) हलका हो जाता है तब वह (जलोवरिं) जल के ऊपर (ठाइ) ठहरा हुआ रह सकता है। इसी तरह (जहतह) जैसे तैसे (कम्मविमुक्का) कर्म से मुक्त हुआ जीव (लोयग्गपइट्ठिया) लोक के अग्रभाग पर स्थित (होंति) होते हैं।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जयं) यत्ना पूर्वक (चरे) चलना (जय) यत्ना पूर्वक (चिट्ठे) ठहरना (जय) यत्ना पूर्वक (आसे) बैठना (जय) यत्ना पूर्वक (सए) सोना जिससे (पाव) पाप (कम्मं) कर्म (न) नहीं (बंधइ) बंधता है। इसी तरह (जय) यत्ना पूर्वक (भुञ्जतो) खाते हुए (भासंतो) और बोलते हुए भी पाप कर्म नहीं बंधते।

भावार्थः हे गौतम ! हिंसा झूंठ चोरी आदि का जिस में तनिक भी व्यापार न हो उसी को यत्ना कहते हैं। उसी यत्ना पूर्वक चलने से खड़े रहने से बैठने से और सोने से पाप कर्मों का बंधन इस आत्मा पर नहीं होता है। इसी तरह यत्ना पूर्वक भोजन करते हुए और बोलते हुए भी पाप कर्मों का बंध नहीं होता है। अतएव हे आर्य ! तू अपनी दिन-चर्या को खूब ही सावधानी पूर्वक यत्ना जिस में आत्मा अपने कर्मों के द्वारा भारी न हो।

पच्छा वि ते पयाया,

खिप्पं गच्छन्ति अमर भवणाइ।

जेसिं पियो तवो संजमो य,

खंति य बम्भचेरं च ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पच्छा वि) पीछे भी अर्थात् वृद्धावस्था में (ते) वे मनुष्य (पयाया) सन्मार्ग को प्राप्त हुए हों (य) और (जेसिं) जिस को (तवो) तप व्रत (संजमो) संयम (य) और (खंति) क्षमा (च) और (बम्भचेरं) ब्रह्मचर्य (पियो) प्रिय है वे (खिप्पं) शीघ्र (अमरभवणाइ) देव-भवनों को (गच्छन्ति) जाते हैं।

भावार्थः–हे आर्य ! जो धर्म की उपेक्षा करते हुए वृद्धावस्था तक पहुँच गए हैं उन्हें भी हताश न होना चाहिए। अगर उस अवस्था में भी वे सदाचार को प्राप्त हो जाँय और तप संयम क्षमा ब्रह्मचर्य को अपना आदर्श भावी बना लें तो वे लोग देवलोक को प्राप्त हो सकते हैं।

तवो जोइ जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसंती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (तवो) तप रूप तो (जोई) अग्नि (जीवो) जीव रूप (जोइठाणं) अग्नि का स्थान (जोगा) योग रूप (सुया) कड़छी (सरीरं) शरीर रूप (कारिसंगं) कण्डे (कम्मेहा) कर्म रूप ईंधन काष्ट (संजम जोग) संयम व्यापार रूप (संती) शान्ति-पाठ है। इस प्रकार का (इसिणं) ऋषि (पसत्थं) प्रशंसनीय चारित्र रूप (होमं) होम को (हुणामि) करता हूँ।

भावार्थः–हे गौतम ! तप रूप जो अग्नि है वह कर्म रूप ईंधन को भस्म करती है और अग्नि का कुण्ड है। क्योंकि तप रूप अग्नि जीव संबंधिनी ही है अतएव जीव ही अग्नि रखने का कुण्ड हुआ। जिस प्रकार कुड़छी से घी आदि पदार्थों को डाल कर अग्नि को प्रदीप्त करते हैं ठीक उसी प्रकार मन वचन और काया के शुभ व्यापारों के द्वारा तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। परन्तु शरीर के बिना

तप नहीं हो सकता है। इसीलिए शरीर रूप कण्डे, कर्म रूप ईंधन और संयम व्यापार रूप शान्ति पाठ पढ़ करके, मैं इस प्रकार ऋषियों के द्वारा प्रशंसनीय चारित्र साधन रूप यज्ञ को प्रतिदिन करता रहता हूँ।

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीतिभूओ पजहामि दोसं॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अणाविले) मिथ्यात्व करके रहित स्वच्छ (अत्तपसन्नलेसे) आत्मा के लिए प्रशंसनीय और अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करने वाला ऐसा जो (धम्मे) धर्म रूप (हरए) द्रह और (बंभे) ब्रह्मचर्य रूप (संतितित्थे) शान्तितीर्थ है। (जहिंसि) उस में (ण्हाओ) स्नान करने से तथा उस तीर्थ में आत्मा को पर्यटन करते रहने से (विमलो) निर्मल (विसुद्धो) शुद्ध और (सुसीतिभूओ) राग द्वेषादि से रहित बन हो जाती है। उसी तरह मैं भी उस द्रह और तीर्थ का सेवन करके (दोसं) अपनी आत्मा को दूषित करे, उस कर्म को (पजहामि) अत्यन्त दूर रखता हूँ।

भावार्थः-हे आर्य! मिथ्यात्वादि पापों से रहित और आत्मा के लिए प्रशंसनीय एवं उत्तम भावनाओं को प्रकट करने में सहाय्य भूत ऐसा जो स्वच्छ धर्म रूप द्रह है उस में इस आत्मा को स्नान कराने से तथा ब्रह्मचर्य रूप

शान्ति-तीर्थ में स्नान करने से शुद्ध निर्मल और रागद्वेषादि से रहित हो जाता है। अतः मैं भी धर्म रूप ह्रद और ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ का सेवन करके आत्मा को दूषित करने वाले अशुभ कर्मों को सर्वांग नष्ट कर रहा हूँ। बस यह आत्मा शुद्धि का स्नान और उसकी तीर्थ यात्रा है।

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य चतुर्थोऽध्यायः ॥

अध्याय पाँचवाँ

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

तत्थ पंचविहं नाणं, सुअं आभिणिबोहिअं।
ओहिणाणं च तइअं मणणाणं च केवलं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति (तत्थ) ज्ञान के सम्बन्ध में (णाणं) ज्ञान (पंचविहं) पाँच प्रकार का है वह यों है। (सुअं) श्रुत (आभिणिबोहिअं) मति (तइअं) तीसरा (ओहिणाणं) अवधि (च) और (मणणाणं) मन: पर्यव (च) और पाँचवाँ (केवलं) केवल ज्ञान है।
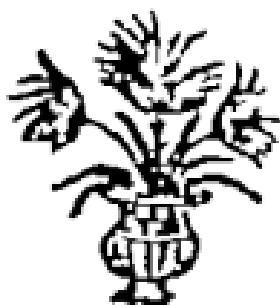
भावार्थ—हे आर्य! ज्ञान पाँच प्रकार का होता है वे पाँच प्रकार यों हैं—(१) मतिज्ञान के द्वारा श्रवण करते रहने से पदार्थ का जो स्पष्ट भेदाभेद ज्ञात पड़ता है वह श्रुत ज्ञान[1] है। (२) पाँचों इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है (३) द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि की मर्यादा पूर्वक रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप

---

(१) नंदी सूत्र में श्रुत-ज्ञान का दूसरा नम्बर है। परन्तु उत्तराध्ययनजी सूत्र में श्रुत ज्ञान को पहला नम्बर दिया गया है। इस का तात्पर्य यों है कि पाँचों ज्ञानों में श्रुत-ज्ञान विशेष उपकारी है। इसलिए यहाँ श्रुत-ज्ञान को पहले ग्रहण किया है।

से जानना यह अवधिज्ञान का काम है। (४) दूसरों के हृदय में स्थित भाव को प्रत्यक्ष रूप से जान लेना मनः पर्यय ज्ञान है। और (५) त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का युगपत् हस्तरेखावत् जान लेना केवल ज्ञान कहलाता है।

अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ — हे इन्द्रभूति! (केवलं) केवल (नाणं) ज्ञान (एगविहं) एक प्रकार का है। वह कैसा है? (सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणं) सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति, ध्रुव, नाश और उनके गुणों का विज्ञान तथा विच्छेद कराने में कारणभूत है। इसी प्रकार (अणंतं) ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा से अनंत है एवं (सासयं) शाश्वत और (अप्पडिवाई) अप्रतिपाती है।

भावार्थ — हे गौतम! केवल ज्ञान का एक ही भेद है। और वह सर्व द्रव्य मात्र के उत्पत्ति, विनाश, ध्रुव और उनके गुणों एवं पारस्परिक पदार्थों की भिन्नता का विज्ञान कराने में कारणभूत है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ अनंत होने से इसे अनंत भी कहते हैं और यह शाश्वत भी है। केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पुनः नष्ट नहीं होता है। इसलिए यह अप्रतिपाती भी है।

पंच पञ्चविहं णाणं, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जयाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एयं) यह (पंचविहं) पांच प्रकार का (णाणं) ज्ञान (सव्वे[1] सिं) सर्व (दव्वाण) द्रव्य (य) और (गुणाण) गुण (य) और (पज्जयाणं) पर्यायों को (णाणं) जानने वाला है ऐसा (नाणीहि) तीर्थंकरों द्वारा (देसियं) कहा गया है।

भावार्थः—हे गौतम ! इन पांच प्रकार के ज्ञानों में से केवलज्ञान, सब द्रव्य, गुण और पर्यायों को एक ही समय में सम्पूर्ण रूप से जान लेता है। और अवशेष ज्ञान नियमित रूप से पर्यायों को जानते हैं। ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (गुणाणं) रूपादि गुणों का (आसओ) आश्रय जो है वह (दव्वं) द्रव्य है। और जो (एगदव्वस्सिया) एक द्रव्य आश्रित रहने वाले

---

1 सर्व द्रव्य, गुण, पर्याय आदि को जानना, यह केवल ज्ञान का विषय है। इस आशय से गाथा में "सव्वेसिं" शब्द का प्रयोग किया गया है। और दूसरे ज्ञानों से तो नियमित पर्याय जानी जाती है।

का सम्पादन करता है फिर जीव रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है। सच है जिस को कुछ भी ज्ञान नहीं है वे क्या तो दया का पालन करेंगे ? और क्या हिताहित ही को पहचानेंगे ? इसलिए सब से पहले ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यकीय है।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सोच्चा) सुन कर (कल्लाणं) कल्याण कारी मार्ग को (जाणइ) जानता है, और (सोच्चा) सुन कर (पावगं) पापमय मार्ग को (जाणइ) जानता है। (उभयं पि) और दोनों को भी (सोच्चा) सुन कर (जाणइ) जानता है। (जं) जो (छेयं) अच्छा हो (तं) उसको (समायरे) अङ्गीकार करता है।

भावार्थ—हे गौतम ! सुनने से हित अहित मंगल अमंगल पुण्य और पाप का बोध होता है। और बोध हो जाने पर यह आत्मा अपने आप श्रेयस्कर मार्ग को अङ्गीकार कर लेती है। और इसी मार्ग के आधार पर आखिर में अनंत सुखमय मोक्षधाम को भी यह पा लेती है। इसलिए महर्षियोंने भी श्रुतज्ञान ही को प्रथम स्थान दिया है।

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (ससुत्ता)

लिए भी अपने कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है। हे गौतम! इस कदर ज्ञान की मुख्यता बताने पर तुम्हें यों न समझ लेना चाहिए कि मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है बल्कि उसके साथ क्रिया की भी ज़रूरत है। ज्ञान और क्रिया इन दोनों के होने पर ही मुक्ति हो सकती है।

इह मेगे उ मरणाति अपच्चक्खाय पावगं।
आयरिअं विदित्ताणं, सव्व दुक्खा विमुच्चई ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (उ) फिर इस विषय में (इह) यहाँ (मेगे) कई एक मनुष्य यों (मण्णंति) मानते हैं कि (पावगं) पाप का (अपच्चक्खाय) बिना त्याग किये ही केवल (आयरिअं) अनुष्ठान को (विदित्ताणं) जान लेने ही से (सव्वदुक्खा) सब दुःखों से (विमुच्चई) मुक्त हो जाता है।

भावार्थः--हे आर्य! कई एक लोग ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि पाप के बिना ही त्यागे अनुष्ठान मात्र को जान लेने से मुक्ति हो जाती है। पर उनका ऐसा मानना नितान्त असंगत है। क्योंकि, अनुष्ठान को जान लेने ही से मुक्ति नहीं हो जाती है। मुक्ति तो तभी होगी जब उस विषय की प्रवृत्ति की जावेगी। अतः मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है। जिसने सद् ज्ञान के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करली है उसके लिए मुक्ति सन्मुख या अति निकट हो जाती है। फक़त, ज्ञान मात्र ही से मुक्ति नहीं होती है।

धागा के हाथ से (सूई) सूई के (पडिया) गिर जाने पर भी (न) नहीं (विणस्सइ) खो जाती है। (तहा) उसी तरह (ससुत्ते) श्रुत-ज्ञान सहित (जीवे) जीव (संसारे) संसार में (न) नहीं (विणस्सइ) नाश होता है

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार धागे वाली सूई गिर जाने पर भी खो नहीं सकती अर्थात् पुनः शीघ्र मिल जाती है उसी प्रकार श्रुत ज्ञान संयुक्त आत्मा कदाचित् मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मोदय से सम्यक्त्व धर्म से च्युत हो भी जाय तो वह आत्मा पुनः रत्नत्रय रूप धर्म को शीघ्रता से प्राप्त कर लेती है

जावंतऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥ ६॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति! (जावंत) जितने (अविज्जा) तत्त्व ज्ञान रहित (पुरिसा) मनुष्य हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसंभवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं। इसीसे वे (मूढा) मूर्ख (अणंतए) अनंत (संसारम्मि) संसार में (बहुसो) अनेकोंबार (लुप्पंति) पीड़ित होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! तत्त्व ज्ञान से हीन जितनी भी आत्माएँ हैं वे सबकी सब अनेकों दुःखों की भागी हैं। इस अनंत संसार की चक्र-फेरी में परिभ्रमण करती हुई वे नाना प्रकार के दुःखों को उठावेंगी। उन आत्माओं का जन्म मर के

समान भाव रखता है। तथा (निंदापसंसासु) निंदा और प्रशंसा में एवं (माणावमाणाओ) मान अपमान में (समो) समान भाव रखता है।

भावार्थ–हे गौतम ! मानव देहधारियों में उत्तम पुरुष वही है जो इच्छित वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति में सुख दुःख में जीवन-मरण में वैसे ही निन्दा और स्तुति में और मान अपमान में सदा समान भाव रखता है।

अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥१२॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति ! (इह) इस (लोए) लोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (परलोए) परलोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (अ) और किसी के द्वारा (वासी-चंदणकप्पो) वसूले से छेदने पर या चंदन का विलेपन करने पर और (असणे) भोजन खाने पर (तहा) तथा (अणसणे) भूखा रहने पर सभी में समान भाव रखता हो, वही महापुरुष है।

भावार्थ–हे गौतम ! मोक्षाधिकारी वे ही मनुष्य हैं जिन्हें इस लोक के वैभवों और स्वर्गीय सुखों की चाह नहीं होती है। कोई उन्हें वसूला (शस्त्र विशेष) से छेदें या कोई उन पर चन्दन का विलेपन करें उन्हें भोजन मिले या फाकाकशी करना पड़े इन सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा सर्वदा समभाव से रहते हैं।

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य
पञ्चमोऽध्याय ॥

सेवणा) अच्छी तरह से देखे हैं तात्त्विक अर्थ जिन्होंने उनकी सेवा शुश्रूषा करना (य) और (अवि) समुच्चय अर्थ में (वावण्ण कुदंसणवज्जणाय) नष्ट हो गया है सम्यक्त्व दर्शन जिसका और दोषों से करके सहित है दर्शन जिसका उसकी संगत परित्यागना यही (सम्मत्तसद्दहणा) सम्यक्त्व की श्रद्धना है।

भावार्थः—हे गौतम ! फिर जो बारबार तात्त्विक पदार्थ का चिन्तवन करता है। और जो अच्छी तरह से तात्त्विक अर्थ पर पहुँच गये हैं उन की यथा योग्य सेवा शुश्रूषा करता हो तथा जो सम्यक्त्व दर्शन से पतित हो गये हैं व जिन का "दर्शन सिद्धान्त" दूषित है उन की संगत परित्यागता हो वही सम्यक्त्व पूर्वक श्रद्धावान् है।

कुप्पावयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं एस मग्गे हि उत्तमे ॥२॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (कुप्पावयणपासंडी) दूषित वचन कहने वाले (सव्वे) सभी (उम्मग्गपट्ठिया) उन्मार्ग में चलने वाले होते हैं। (तु) और (जिणक्खायं) श्री वीतराग का कहा हुआ मार्ग ही (सम्मग्गं) सन्मार्ग है। (एस) यह (मग्गे) मार्ग (हि) निश्चय रूप से (उत्तमे) प्रधान है। ऐसी जिस की मान्यता है। वही सम्यक्त्व पूर्वक श्रद्धावान् है।

भावार्थः—हे गौतम ! हिंसामय दूषित वचन बोलने वाले हैं वे सभी ठगोरे हैं। उन लोगों का मार्ग ऊटपटांग है। सत्य मार्ग जो है वह राग द्वेष रहित और आप्त पुरुषों का बताया हुआ

मासलेवपम्मरई) किया करते करते तथा संक्षेप से या श्रुत धर्म श्रवण से रुचि हो।

भावार्थः–हे गौतम ! उपदेश श्रवण न करके स्वभाव में ही तत्त्व की रुचि होने पर किसी किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किसीको उपदेश सुनने से किसी को भगवान की इस प्रकार की आज्ञा है ऐसा, सुनने से सूत्रों के श्रवण करने से एक शब्द का जो बीज की तरह अनेक अर्थ बताता हो ऐसा वचन सुनने से, विशेष विज्ञान हो जाने से विस्तार पूर्वक अर्थ सुनने से, धार्मिक अनुष्ठान करने से संक्षेप अर्थ सुनने से, श्रुत धर्म के मनन पूर्वक श्रवण करने से तत्त्वों की रुचि होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइअव्वं।
सम्मत्तचरित्ताई, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (सम्मत्तविहूणं) सम्यक्त्व के बिना (चरित्त) चारित्र (नत्थि) नहीं है (उ) और (दंसणे) दर्शन में (भइअव्वं) चारित्र की का भावाभाव है। (सम्मत्तचरित्ताई) सम्यक्त्व और चारित्र (जुगवं) एक साथ भी होते हैं। (व) अथवा (सम्मत्तं) सम्यक्त्व चारित्र के (पुव्वं) पूर्व भी होता है।

भावार्थ–हे आर्य ! सम्यक्त्व के बिना चारित्र का उदय होता ही नहीं है। पहले सम्यक्त्व होगा फिर सम्यक्त्व चारित्र का अनुगामी हो सकता है और सम्यक्त्व में चारित्र का भावाभाव है क्योंकि सम्यक्त्वी कोई गृहस्थ

निस्संकिय निक्कंखिय,
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह—थिरीकरणे,
वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! सम्यक्त्व धारी वही है, जो (निस्संकिय) निश्शंकित रहता है (निक्कंखिय) मतान्तरों की कांक्षा रहित रहता है। (निव्वितिगिच्छा) सुकृतों के फल होने में संदेह रहित रहता है। (य) और (अमूढदिट्ठी) जो मतान्तरधारियों को ऋद्धिवन्त देख कर मोह न करता हुआ रहता है। (उववूह-थिरीकरणे) सम्यक्त्वी के गुणों की प्रशंसा करता रहता है। सम्यक्त्व से पतित होते हुए को स्थिर करता (वच्छल्लपभावणे) स्वधर्मी जनों की सेवा शुश्रूषा कर वात्सल्यभाव दिखाता रहता है। और आठवें में जो जैन दर्शन की उन्नति करता रहता है।

भावार्थ—हे आर्य! सम्यक्त्वधारी वही है जो शुद्ध देव गुरु, धर्म रूप तत्त्वों पर निश्शंकित हो कर श्रद्धा रखता है। कुदेव कुगुरु कुधर्म रूप जो मतत्त्व है उन्हें ग्रहण करने की तनिक भी अभिलाषा नहीं करता है। गृहस्थ धर्म या मुनि धर्म से होने वाले फलों में जो कभी भी संदेह नहीं करता। अन्य दर्शनी को धन सम्पत्ति से भरा पूरा देख कर जो ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे दर्शन से इस का दर्शन ठीक है तभी तो यह इतना धनवान् है सम्यक्त्वधारियों की यथायोग्य प्रशंसा कर के जो उन के सम्यक्त्व के गुणों की वृद्धि करता है सम्यक्त्व से पतित होते हुए अन्य पुरुष

समन्वित हृदय वाले। (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरंति) मरते हैं (तेसिं) उन्हें (बोही) सम्यक्त्व (सुलहा) सुलभतावाले (भवे) प्राप्त हो सक्ता है।

भावार्थः—हे गौतम! जो शुद्ध देव गुरु, और धर्म रूप दर्शन में श्रद्धा पूर्वक सदैव रत रहता हो। निदान-रहित तप, धर्म क्रिया करता हो और शुद्ध परिणामों करके हृदय उमंग मिसका रहा हो। इस तरह प्रवृत्ति रख करके जो जीव मरते हैं, उन्हें धर्म बोध की प्राप्ति अगले भव में सुगम तासे होती जाती है।

जिणवयणे अणुरत्ता,जिणवयणं जे करिंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जे) जो जीव (जिण-वयणे) वीतरागों के वचनों में (अणुरत्ता) अनुरक्त रहते हैं। और (भावेणं) श्रद्धापूर्वक (जिणवयणं) जिन वचनों को प्रमाण रूप (करिंति) मानते हैं (अमला) मिथ्यात्व रूप मल करके रहित एवं (असंकिलिट्ठा) संक्लेश करके रहित जो हों (ते) वे (परित्तसंसारी) अल्प संसारी होते हैं।

भावार्थः—हे आर्य! जो वीतरागों के कहे हुए वचनों में अनुराग रख कर उनके वचनों को प्रमाण भूत जो मानते हैं तथा मिथ्यात्व रूप दुर्गुणों से बचते हुए राग द्वेष से दूर रहते हैं वे ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके अल्प समय में ही मोक्ष को पहुँच जाया करते हैं।

प्रकाश करता है ऐसा (तत्त्वाज) तथा भूत का मानव शरीर मिलना अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा योग्य भावना का उस में आना (दुल्लहा) दुर्लभ है।

भावार्थः-हे गौतम! जो जीव सम्यक्त्व से पतित होकर यहाँ से मरता है। उस को फिर धर्म बोध की प्राप्ति होना महान् कठिन है। इस से भी यथातथ्य धम रूप अर्थ का प्रकाश जिस मानव शरीर स होता रहता है। ऐसा मनुष्य देह अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य उच्च अध्यवसायों (भावनाओं) का आना महान् कठिन है।

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य षष्ठोऽध्याय ॥

जाणि च गुर्हाइं च इहवज्ज पास।
भूतेहिं जाए पडिलेह साय।
तम्हा तिविज्जा परमति णच्चा।
सम्मत्तदंसी ण करेति पाव ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ हे इन्द्रभूति ! (जाणिं) जन्म (च) मरण (दुहाइं) दुःखप को (इहवज्ज) इस संसार में (पास) देख कर (च) और (भूतेहिं) प्राणियों करके (सायं) साता का (जाए) जाम (पडिलेह) देख (तम्हा) इसलिये (विज्जा) तत्त्वज्ञ परम) मोक्ष मार्ग (ति) ऐसा (णच्चा) जान कर (सम्मत्तदंसी) सम्यक्त्व दृष्टि वाले (पावं) पाप को (ण) नहीं (करेति) करता है

भावार्थ हे गौतम ! इस संसार में जन्म और मरण के महान दुःखों का तू देख और इस बात का ज्ञान प्राप्त कर कि सब जीवों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। इसलिये ज्ञानी जन मोक्ष के मार्ग को जान कर वे सम्यक्त्व धारी बन कर किंचित् मात्र भी पाप नहीं करते हैं।

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाउ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१३॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति ! (इओ) यहाँ से (विद्धंसमाणस्स) मरने के बाद उसको (पुणो) फिर (संबोहिं) धर्म बोधकी प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। उससे भी कठिन (जे) जो (धम्मट्ठं) धर्म रूप अर्थ का (वियागरे)

शिक्षा व्रत यों बारह प्रकार से धर्म को धारण करना आवश्य-कीय बताया है। वे इस प्रकार हैं—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—जिससे फिरते त्रस जीवों को बिना अपराध के देख भाल कर द्वेष वश मारने की नियत से हिंसा न करना। मुसावायाओ वेरमणं—जिस भाषा से अनर्थ पैदा होता हो और राज एवं पंचायत में अनादर हो ऐसी लोक विरुद्ध असत्य भाषा को तो कम से कम नहीं बोलना। थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं—गुप्त रीति से किसी के घर में घुस कर गांठ खोल कर ताले पर कुंजी लगा कर लुटेरे की तरह या और भी किसी तरह की जिससे व्यवहार मार्ग में भी लज्जा हो ऐसी चोरी तो कम से कम नहीं करना। सदारसंतोसे * कुल के अग्रसरों की साक्षी से जिसके साथ विवाह किया है उस स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को माता एवं बहिन और बेटी की निगाह से देखना और अपनी स्त्री के साथ भी कम से कम अष्टमी चतुर्दशी एकादशी, बीज पंचमी अमावस्या, पूर्णिमा के दिन तो व्यभिचार का त्याग करना। इच्छापरिमाणे—खेत कूप, सोना, चांदी

---

* गृहस्थ-धर्म पालन करने वाली महिलाओं के लिए भी अपने कुल के अग्रसरों की साक्षी से विवाहित पुरुष के सिवाय समस्त पुरुष वर्ग को पिता भ्राता और पुत्र के समान समझना चाहिए। और स्वपति के साथ भी कम से कम पर्व तिथियों पर कुशील सेवन का परित्याग करना चाहिए।

अध्याय सातवां

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

> महव्वए पंच अणुव्वए य
>
> तहेव पंचासवसंवरे य ।
>
> विरतिं इह स्सामणियंमि पन्ने
>
> लवावसक्की समणे त्ति बेमि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—हे मनुष्यो ! (इह) इस जिन शासन में (सामणियंमि) चारित्र पालन करने में (पन्ने) बुद्धिमान् और (लवावसक्की) कर्म काटने में समर्थ ऐसे (समणे) साधु (पंच) पांच (महव्वए) महाव्रत (य) और (अणुव्वए) पांच अणुव्रत (य) और (तहेव) वैसे ही (पंचासवसंवरे) पांच आश्रव और संवर रूप (विरतिं) विरति को (त्तिबेमि) कहता हूं।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! सचारित्र के पालन करने में महा बुद्धिशाली और कर्मों को नष्ट करने में समर्थ ऐसे श्रमण भगवान महावीर ने इस शासन में साधुओं के लिये तो पांच महाव्रत अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अकिंचन को सब प्रकार से पालने की आज्ञा दी है और गृहस्थी के लिये कम से कम पांच अणुव्रत और सात

भावार्थः-हे आर्य ! गृहस्थ धर्म पालन करनेवालों को कोयले तैयार करवा कर बेचने का या कुम्हार लुहार, भड़भूंजे आदि के काम जिनमें महान् अग्नि का आरंभ होता है, ऐसे कर्म नहीं करना चाहिए । वन, झाड़ी कटवाने का ठेका वगैरह लेने का या वनस्पति, पान फल फूलों की उत्पत्ति करवा कर बेचनेका धंधा, गाड़ी वगैरह तैयार करवा कर बेचने का, बैल घोड़े ऊंट आदि को भाड़े से फिराने का या धंधा गाड़ी वगैरह भाड़े फिरा करके आजीविका कमाने का और खानें आदि को खुदवाने का कर्म आजीवन के लिये छोड़ देना चाहिए। और व्यापार संबंध में हाथी-दाँत चमड़े आदि का लाख का मदिरा शहद आदि का, कबूतर बटेर तोते, कुक्कट बकरे आदि का संखिया वच्छनाग आदि जिनके खाने से मनुष्य मरजाते हैं ऐसे ज़हरीले पदार्थों का या तलवार, बंदूक, बरछी आदि का व्यापार कम से कम गृहस्थ-धर्म पालन करनेवाले को कभी भूल कर भी नहीं करना चाहिए।

एवं खु जंतपिल्लण कम्मं, निल्लंछणं च दवदाणं ।
सरदहतलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (खु) निश्चय करके (जंतपिल्लण) यंत्रों के द्वारा प्राणियों को बाधा पहुँचे ऐसा (च) और (निल्लंछणं) अवयवछेद कराने का (दवदाणं) दावानल लगाने का (सरदह-तलायसोसं) सर द्रह, तालाब की पाल फोड़ने का (च) और (असईपोसं) दासी वेश्यादि का पोषण (कम्मं) कर्म (वज्जिज्जा) छोड़ देना चाहिए।

धान्य, पशु आदि सम्पत्ति का कम से कम जितनी इच्छा हो उतनी ही का परिमाण करना। ताकि परिमाण से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा का दमन हो जाय। यह भी गृहस्थ का एक धर्म है। गृहस्थ को अपने छट्ठे धर्म के अनुसार दिसिप्पय चारों दिशा और ऊंची नीची दिशाओं में गमन करने का अन्दाज कर लेना। सातवें में उपभोग परिभोग परिमाण-खाने पीने की वस्तुओं की और पहनने की वस्तुओं की सीमा बांधना ऐसा करने से कभी वह तृष्णा के साथ भी विजय प्राप्त कर लेता है। फिर उससे मुक्ति भी निकट आजाती है। इसका विशेष विवरण यों है—

इंगाली, वण साडी,
भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव य दंत,
लक्खरसकेस विसविसयं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इंगाली) कोयले पकाने का (वण) वन कटवाने का (साडी) गाड़ियें बनाकर बेचने का (भाडी) गाड़ी घोड़े बैल आदि से भाड़ा कमाने का (फोडी) खानें आदि खुदवाने का (कम्मं) कर्म गृहस्थ को (सुवज्जए) परित्याग कर देना चाहिए। (य) और (दंत) हाथी दांत का (लक्ख) लाख का (रस) मधु आदि का (केस) मुर्गी कबूतरों आदि बेचने का (विसविसयं) जहर और शस्त्रों आदि का (वाणिज्जं) व्यापार (चेव) यह भी विशेष रूप से गृहस्थों को छोड़ देना चाहिए।

चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या को पौषध [The 11th vow of a layman in which he has to abandon all sinful activities for a day and has to remain in a Religious place fasting] करे। अर्थात् इन दिनों में तो वे सम्पूर्ण सांसारिक झंझटों को छोड़ छाड़ कर अहोरात्रि आध्यात्मिक विचारों का मनन किया करें। और बारहवाँ गृहस्थ का धर्म यह है कि अतिथिसंविभाग अपने घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार कर उन्हें भोजन दे देते रहें। इस प्रकार गृहस्थ को अपने गृहस्थ धर्म का पालन करते रहना चाहिए।

यदि इस प्रकार गृहस्थ का धर्म पालन करते हुए कोई उत्तीर्ण हो जाय और वह फिर आगे बढ़ना चाहे तो इस प्रकार प्रतिमा धारण कर गृहस्थ जीवन को सुशोभित करे।

दंसणवयसामाइय पोसह पडिमा य बंभ अचित्ते ।
आरंभपेसउद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (दंसणवयसामाइय) दर्शन, व्रत सामायिक पडिमा (य) और (पोसह) पौषध (य) और (पडिमा) पाँचवीं में पाँच बातों का परित्याग वह करे (बंभ) ब्रह्मचारी (आरंभ) आरंभ त्यागे (पेस) दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग करवाना (उद्दिट्ठवज्जए) अपने लिए बनाये हुए भोजन का परित्याग करना (य) और नौवीं पडिमा में (समणभूए) साधु के समान वृत्ति को पालना।

मुह पर मुंह-पति को बंधी हुई रक्खे। और ४२ दोषों को टाल कर अपने ज्ञाति वालों के यहां से भोजन लावे इस प्रकार उत्तरोत्तर गुण बढ़ाते हुए प्रथम पडिमा में एकान्तर तप करे और दूसरी पडिमा में दो महीने तक बेले बेले पारणा करे। इसी तरह ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक ग्यारह ग्यारह उपवास करता रहे। अर्थात् एक दिन भोजन करे फिर ग्यारह उपवास करे। फिर एक दिन भोजन करे। यों लगातार ग्यारह महीने तक ग्यारह का पारणा करे।

इस प्रकार गृहस्थ-धर्म पालते पालते अपने जीवन का अंतिम समय यदि आ जाय तो अपच्छिमा मारणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा-सब सांसारिक व्यवहारों का सब प्रकार से आजन्म के लिए परित्याग करके संथारा (समाधि) [Act of meditating that a particular person may die in an undistracted condition of mind] धारण करके और अपने त्याग धर्म में किसी भी प्रकार की दोषापत्ति भूल से यदि हो गयी हो, तो आलोचक के पास उन बातों को प्रकाशित करदे। जो वे प्रायश्चित उसके लिए दें उसे स्वीकार कर अपनी आत्मा को निर्मल बनावे फिर प्राणी मात्र पर यों मैत्री भाव रक्खे।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेर मज्झ ण केणइ ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-(सव्वे) सब (जीवा) जीवों को (खामेमि)

भावार्थ –हे गौतम ! जो गृहस्थ गृहस्थ धर्म की ऊंची पायरी पर चढ़ना चाहे तो उसकी विधि इस प्रकार है— पहले अपनी श्रद्धा की ओर दृष्टिपात करके चारों ओर से वह देख ले कि मेरी श्रद्धा में कोई पोलमाल तो नहीं है। इस तरह लगातार एक महीने तक श्रद्धा के विषय में ध्यान पूर्वक अभ्यास वह करता रहे। फिर उसके बाद दो मास तक पहले लिये हुए व्रतों को निर्मल रूप से पालने का अभ्यास वह करे। तीसरी पडिमा में तीन मास तक यह अभ्यास करे कि किसी भी जीव पर राग द्वेष के भावों को वह न आने दे। अर्थात् इस प्रकार अपना हृदय सामायिक मय बनावे। चौथी पडिमा में चार महीने तक महीने में छः छः के हिसाब से पौषध करे। पांचवीं पडिमा में पांच महीने तक इन पांच बातों का अभ्यास करे। (१) पौषध में ध्यान करे (२) शृंगार के निमित्त स्नान न करे (३) रात्रि भोजन न करे (४) पौषध के सिवाय और दिनों में दिनका ब्रह्मचर्य पाले, (५) रात्रि में ब्रह्मचर्य की मर्यादा करता रहे। छठी पडिमा में छः महीने तक सब प्रकार से ब्रह्मचर्य के पालन करने का अभ्यास वह करे। सातवीं पडिमा में सात महीने तक सचित भोजन न खाने का अभ्यास करे। आठवीं पडिमा में आठ महीने तक स्वतः कोई आरंभ न करे। नौवीं पडिमा में नौ महीने तक दूसरों से भी आरम्भ न करवावे। दसवीं पडिमा में दस महीने तक अपने लिए किया हुआ भोजन न खावे। पूछने पर यथार्थ भाषण करे। ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक साधु के समान क्रियाओं का पालन वह करता रहे। शक्ति हो तो बालों का लोच भी करे नहीं शक्ति हो तो हजामत करवाय लुंची हुवरी का रजोहरण बगल में रक्खे।

के अंगों की अर्थात् समता शान्ति आदि गुणों की मन वचन काया के द्वारा अभ्यास के साथ अभिवृद्धि करता रहे। और कृष्ण शुक्ल दोनों पक्षों में कम से कम छ पौषध करने में तो न्यूनता एक रात्रि की भी कमी न करे।

एव सिक्खासमावण्णे, गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति !(एवं)इस प्रकार (सिक्खा-समावण्णे) शिक्षा करके युक्त गृहस्थ (गिहिवासे वि) गृह वास में भी (सुव्वए) अच्छे व्रत वाला होता है। और वह अन्तिम समय में (छविपव्वाओ) चमड़ी और हड्डी वाले शरीर को (मुच्चई) छोड़ता है। और (जक्खसलोगयं) यक्ष देवता के सदृश स्वर्गलोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार जो गृहस्थ अपने सदाचार रूप गृहस्थ धर्म का पालन करता है वह गृहस्थाश्रम में भी अच्छे व्रतवाला संयमी होता है। इस प्रकार गृहस्थ-धर्म के पालते हुए यदि उसका अन्तिम समय भी आजाय तो भी हड्डी चमड़ी और मांस निर्मित इस औदारिक (External physical body having flesh blood and bone) शरीर को छोड़ कर यक्ष देवताओं के सदृश देवलोक को प्राप्त होता है।

दीहाउया इड्ढिमंता समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जोअच्चिमालिप्पभा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! जो गृहस्थ-धर्म पालन कर स्वर्ग में जाते हैं तो वहाँ वे (दीहाउया) दीर्घायु (इड्ढि-

खमाता हूं। (मे) मेरा अपराध (सव्वे) सब (जीवा) जीव (खमन्तु) क्षमा करो (सव्व भूएसु) प्राणी मात्र में (मे) मेरी (मित्ती) मैत्री भावना है (केणइ) किसी भी प्रकार से उनके साथ (मज्झं) मेरा (वेरं) वैर (न) नहीं है।

भावार्थ—हे गौतम! उत्तम पुरुष जो होता है वह सदैव वसुधैव कुटुम्बकम् जैसी भावना रखता हुआ वाणी के द्वारा भी यों बोलेगा कि सब ही जीव क्या छोटे और बड़े उन से क्षमा चाहता हूं। अतः वे मेरे अपराध को क्षमें। चाहे जिस जाति व कुल का हो उन सबों में मेरी मैत्री भावना है। भले ही वे मेरे अपराधी क्यों न हों तदपि उन जीवों के साथ मेरा किसी भी प्रकार वैर विरोध नहीं है। बस उस के लिए फिर मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है।

आगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (सड्ढी) श्रद्धावान् (आगारि) गृहस्थी (सामाइयंगाइं) सामायिक के अंगों को (काएण) काया के द्वारा (फासए) स्पर्श करे, और (दुहओ) दोनों (पक्खं) पक्ष को (पोसहं) पौषध करने में (एगराइं) एक रात्रि की भी (न) नहीं (हावए) न्यूनता करे।

भावार्थः—हे आर्य! जो गृहस्थ है और अपना गृहस्थ धर्म पालन करता है वह श्रद्धावान् गृहस्थ सामायिक भाव

ग्रहण कर (कयाइ वि) कभी भी (न) नहीं (अकंखे) विषयादि सेवन की इच्छा करे और (पुव्वकम्मक्खयट्ठाए) पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करने के लिए (इमं) इस (देह) मानव शरीर को (समुद्धरे) निर्दोष वृत्ति से धारण करके रक्खे।

भावार्थ-हे गौतम! संसार से परे जो मोक्ष है उसको लक्ष्य में रख करके कभी भी कोई विषयादि सेवन की इच्छा न करे। और पूर्व के अनेक भवों में किये हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस शरीर का निर्दोष आहारादि से पालन पोषण करता हुआ अपने मानव जन्म को सफल बनावे।

दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥ ११ ॥

भावार्थ-हे इन्द्रभूति! (मुहादाई) स्वार्थ रहित भावना से देने वाला व्यक्ति (दुल्लहा) दुर्लभ (उ) और (मुहाजीवी) स्वार्थ रहित भावना से दिये हुए भोजन के द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले (वि) भी (दुल्लहा) दुर्लभ है (मुहादाई) ऐसा देने वाला और (मुहाजीवी) ऐसा लेने वाला (दो वि) दोनों ही (सोग्गइं) स्वर्ग को (गच्छंति) जाते हैं।

अन्वयार्थ:-हे गौतम! नाना प्रकार के ऐहिक सुख प्राप्त होने की स्वार्थ रहित भावना से जो दान देता है, ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही है। और देने वाले का किसी भी प्रकार संबंध न कार्य न करके उससे निस्वार्थ ही भोजन

या लोचन करवाना (पयाणी) इतने प्रकार (परियागयं) दीक्षा प्राप्त बुआ (कुसीलं) कुष्ट आचार वाला (न) नहीं (ताइंसि) रक्षित होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! संयमी जीवन बिताये बिना केवल परमर्षों की साख के वस्त्र पहनने से या किसी किस्म के धर्म के वस्त्र पहनने से अथवा नग्न रहने से, अथवा अल्पारम्भ करने से, अथवा फटे टूटे कपड़ों के टुकड़ों को सीकर पहनने से और केसों का मुण्डन व लोचन करने से कभी मुक्ति नहीं होती है। इस प्रकार भले ही वह साधु कहलाता हो,पर वह कुराचारी न तो अपना स्वत: का रक्षण कर पाता है, और न औरों ही का। ऐसे शिथिलाचारियों से यथायोग्य गृहस्थ-धर्म के पालन करने वाले गृहस्थी ही ठीक है।

अत्थगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आइच्चे) सूर्य (अत्थगयमि) अस्त होने पर (य) और (पुरत्था) पूर्व दिशा म (अणुग्गए) उदय नहीं हो वहां तक (आहारमाइयं) आहार आदि (सव्वं) सब को (मणसा) मन से (वि) भी कभी (न) नहीं (पत्थए) चाहता हो ।

भावार्थः-हे गौतम ! सूर्य अस्त होने के पश्चात् जब तक फिर पूर्व दिशा में, सूर्य उदय न हो जावे उस के बीच के समय में गृहस्थ सब तरह के पेय अपेय पदार्थों को खाने पीने की मन से भी कभी इच्छा न करे।

भावार्थ—हे गौतम ! तप करने से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो इन्द्रियों का दमन करने से लोहू माँस जिसका सूख गया हो, व्रत नियमों का सुन्दर रूप से पालन करने के कारण जिसका स्वभाव शान्त हो गया हो उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

जहा पउमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पउमं) कमल (जले) जल में (जायं) उत्पन्न होता है तोभी (वारिणा) जल से (नोवलिप्पइ) वह लिप्त नहीं होता है (एवं) ऐसे ही (कामेहिं) काम भोगों से (अलित्तं) अलिप्त है (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण कहते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जैसे कमल जल से उत्पन्न होता है पर जलमें सदा अलिप्त रहता है इसी तरह कामभोगों से उत्पन्न होने पर भी विषय-वासना सेवन से जो सदा दूर रहता है वह किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (मुंडिएण) मुंडन व लोचन करने से (समणो) श्रमण (न) नहीं होता है। और (ओंकारेण) ओंकार शब्द मात्र जप लेने से (बम्भणो) कोई ब्राह्मण (वि) भी (न) नहीं हो सकता है। इसी

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमलपावगं ।
रागद्दोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहामट्ठं) जिसे कसोटी पर कसा हुआ है और (निद्धंतमलपावगं) अग्नि से मल दूर किया है मलको जिस के ऐसा (जायरूवं) सुवर्ण गुण युक्त होता है। वैसे ही जो (रागद्दोसभयातीतं) राग द्वेष और भय से रहित हो (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) माहण (बूम) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार कसोटी पर कसा हुआ एवं अग्नि के ताप से दूर हो गया है मैल जिसका ऐसा सुवर्ण ही वास्तव में सुवर्ण होता है। इसी तरह निर्मोह और *शान्ति* रूप *कसोटी* पर कसा हुआ तथा *ज्ञान* रूप अग्नि से जिसका राग द्वेष रूप मैल दूर हो गया हो उसी को हम माहण कहते हैं।

तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो (तवस्सियं) तप करने वाला हो जिससे वह (किसं) दुर्बल हो रहा हो (दंतं) इन्द्रियों का दमन करने वाला हो जिससे (अवचियमंससोणियं) सूख गया है माँस और लून जिसका (सुव्वयं) व्रत नियम सुन्दर पालता हो (पत्तनिव्वाणं) प्राप्त हुआ है शान्तता को (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) माहण (बूम) कहते हैं।

गुणों की वांछा रहित बिना किसी को कष्ट दिए जो तप करता है वही तपस्वी है।

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ सुद्दो होइ कम्मुणा ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कम्मुणा) क्षमादि अनुष्ठान करने से (बम्भणो) ब्राह्मण (होइ) होता है और (कम्मुणा) पर पीड़ाहरण व रक्षादि कार्य करने से (खत्तिओ) क्षत्री (होइ) होता है। इसी तरह (कम्मुणा) नीति पूर्वक व्यवहार कर्म करने से (वइसो) वैश्य (होइ) होता है। और (कम्मुणा) दूसरों को कष्ट पहुँचाने रूप कार्य जो करे वह (सुद्दो) शूद्र (होइ) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! चाहे जिस जाति व कुल का मनुष्य क्यों न हो जो क्षमा सत्य शील तप आदि सदनुष्ठान रूप कर्मों का कर्ता होता है वही ब्राह्मण है। केवल छापा तिलक कर लेने से ब्राह्मण नहीं हो सकता है। और जो भय दुःख, आदि से मनुष्यों को मुक्त करने का कर्म करता है वही क्षत्रिय अर्थात् राजपुत्र है। अन्याय पूर्वक राज करने से तथा शिकार खेलने से कोई भी व्यक्ति आज तक क्षत्रिय नहीं बना। इसी तरह नीति पूर्वक प्रत्येक के साथ में जो व्यापार करने का कर्म करता है वही वैश्य है। नापने तौलने लेन देन आदि सभी में अनीति पूर्वक व्यवहार कर लेने मात्र से कोई वैश्य नहीं हो सकता है। और जो दूसरों को संताप पहुँचाने वाले ही कर्मों को करता रहता है वही शूद्र है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य सप्तमोऽध्यायः॥

सरह (रएणयावासेणं) अटवी में रहने से (मुणी) मुनि (न) नहीं होता है। (कुसचीरेण) दर्भ के वस्त्र पहनने से (तावसो) तपस्वी (न) नहीं होता है।

भावार्थः—हे गौतम! केवल सिर मुंडाने से या ओंकार मात्र करने से ही कोई साधु नहीं बन जाता है। और न ओंकार शब्द मात्र के रटने से ही कोई ब्राह्मण हो सकता है। इसी तरह केवल सघन अटवी में निवास करलेने से ही कोई मुनि नहीं हो सकता है। और न केवल घास विशेष अर्थात् दर्भ का कपड़ा पहन लेने से तपस्वी बन सकता है।

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (समयाए) शत्रु और मित्र पर समभाव रखने से (समणो) श्रमण-साधु (होइ) होता है। (बंभचेरेण) ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से (बंभणो) ब्राह्मण होता है (य) और इसी तरह (नाणेणं) ज्ञान सम्पादन करने से (मुणी) मुनि (होइ) होता है एवं (तवेणं) तप करने से (तावसो) तपस्वी (होइ) होता है।

भावार्थः हे गौतम! सर्व प्राणी मात्र फिर चाहे वे शत्रु जैसा बरताव करते हों या मित्र जैसा, आदरणीय या गर्हणीय हैं जो व्यक्ति हों उन सभी को समदृष्टि से जो देखता हो वही साधु है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला किसी भी कौम का हो वह ब्राह्मण ही है इसी तरह सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर के उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ही मुनि है। वैदिक

प्रियकारी (गत्तभूसणं) शरीर शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध हैं। क्योंकि (दुज्जया) जीतने में कठिन हैं ऐसे ये (कामभोगा) कामभोग (अत्त-गवेसिस्स) आत्मगवेषी ब्रह्मचारी (नरस्स) मनुष्य के (तालउडं) तालपुट (विसं) ज़हर के (जहा) समान हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! स्त्री व नपुंसक (हींजड़े) जहाँ रहते हों वहाँ ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। स्त्रियों की कथा का कहना स्त्रियों के आसन पर बैठना, उन के अंगो पाङ्गों को देखना और जो पूर्व में स्त्रियों के साथ काम चेष्टा की है उसका स्मरण करना, नित्यप्रति स्निग्ध भोजन करना, परिमाण से अधिक भोजन करना पूर्व शरीर की शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध हैं। क्योंकि ये दुर्जयी काम भोग ब्रह्मचारी के लिए तालपुट ज़हर के समान होते हैं।

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बम्भयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (कुक्कुड-पोअस्स) मुर्गी के बच्चे को (निच्चं) हमेशा (कुललओ) बिल्ली से (भयं) भय रहता है। (एवं) इसी प्रकार (खु) निश्चय करके (बंभयारिस्स) ब्रह्मचारी को (इत्थीविग्गहओ) स्त्री शरीर से (भयं) भय बना रहता है।

भावार्थः-हे गौतम ! ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों की विषय कलित वार्तालाप तथा स्त्रियों का संसर्ग करना चाहि

❀ अध्याय आठवां ❀

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं तेसिं इंदियदरिसणं ॥ १ ॥
कूइयं रुइयं गीयं, हसियं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं ॥ २ ॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (थीजणाइण्णो) स्त्री जन सहित (आलओ) मकान में रहना (य) और (मणोरमा) मन-रमणीय (थीकहा) स्त्री-कथा कहना (चेव) और (नारीणं) स्त्रियों के (संथवो) संस्तव अर्थात् एक ही आसन पर बैठना (चेव) और (तेसिं) स्त्रियों का (इंदियदरिसणं) अङ्गोपाङ्ग देखना ये ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध है। (य) और (कूइयं) कूजित (रुइयं) रुदित (गीयं) गीत (हसियं) हास्य और (भुत्तासियाणि) स्त्रियों के साथ पूर्व में जो काम क्रीड़ा की है उसका स्मरण (च) और निग्ध (पणीयं) स्निग्ध (भत्तपाणं) आहार पानी एवं (अइमायं) परिमाण से अधिक (पाणभोयणं) आहार पानी का खाना पीना (च) और (इट्ठं)

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (हत्थपायपडिच्छिन्नं) हाथ पाँव छेदे हुए हों (कन्ननासविगप्पियं) कान नासिका विकृत आकार के हों, (वाससयं) सौ वर्ष वाली हो (अवि) ऐसी भी (नारिं) स्त्री का संसर्ग करना (बंभयारी) ब्रह्मचारी (विवज्जए) छोड़ देवे।

भावार्थः—हे गौतम! जिसके हाथ पैर कटे हुए हों कान नाक भी खराब आकार वाले हों और अवस्था में भी सौ वर्ष वाली हो तो भी ऐसी स्त्री के साथ भी संसर्ग परिचय करना, ब्रह्मचारियों के लिए परित्याज्य है।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! ब्रह्मचारी (कामरागविवड्ढणं) काम राग आदि को बढ़ाने वाले ऐसे (इत्थीणं) स्त्रियों के (तं) तत्संबंधी (अंगपच्चंगसंठाणं) सिर नयन आदि आकार प्रकार और (चारुल्लवियपेहियं) सुन्दर बोलने का ढंग एवं नयनों के कटाक्ष बाण की ओर (न) न (निज्झाए) देखे।

भावार्थः—हे गौतम! ब्रह्मचारियों को कामराग बढ़ाने वाले जो स्त्रियों के हाथ पाँव आँख नाक, मुँह आदि के आकार प्रकार हैं उनकी ओर, एवं स्त्रियों के सुन्दर बोलने की ढब तथा उनके नयनों के तीक्ष्ण बाणों की ओर कदापि न देखना चाहिए।

जो निषेध किया है वह इसलिए है कि जैसे मुर्गी के बच्चे को सदैव बिल्ली से प्राणघात का भय रहता है अतः अपनी प्राण रक्षा के लिए वह उससे बचता रहता है। उसी तरह ब्रह्मचारियों को स्त्रियों के संसर्ग से अपने ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का भय सदा रहता है। अतः उन्हें स्त्रियों से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए।

जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (बिराला-वसहस्स) बिल्लियों के रहने के स्थानों के (मूले) समीप में (मूसगाणं) चूहों का (वसही) रहना (पसत्था) अच्छा (न) नहीं है (एमेव) इसी तरह (इत्थी-निलयस्स) स्त्रियों के निवास स्थान के (मज्झे) मध्य में (बम्भयारिस्स) ब्रह्मचारियों का (निवासो) रहना (खमो) योग्य (न) नहीं है।

भावार्थः—हे आर्य ! जिस प्रकार बिल्लियों के निवास स्थानों के समीप चूहों का रहना बिलकुल योग्य नहीं अर्थात् खतरनाक है। इसी तरह स्त्रियों के रहने के स्थान के समीप ब्रह्मचारियों का रहना भी उनके लिए योग्य नहीं है।

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कण्णनासविगप्पियं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (हत्थपायपडिच्छिन्नं) हाथ पाँव छेदे हुए हों (कण्णनासविगप्पियं) कान नासिका विकृत आकार के हों, (वाससयं) सौ वर्ष वाली हो (अवि) ऐसी भी (नारिं) स्त्री का संसर्ग करना (बंभयारी) ब्रह्मचारी (विवज्जए) छोड़दे।

भावार्थः—हे गौतम! जिसके हाथ पैर कटे हुए हों कान नाक भी खराब आकार वाले हों, और अवस्था में भी सौ वर्ष वाली हो तो भी ऐसी स्त्री के साथभी संसर्ग परिचय करना, ब्रह्मचारियों के लिए परित्याज्य है।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! ब्रह्मचारी (कामरागविवड्ढणं) काम राग आदि को बढ़ाने वाले ऐसे (इत्थीणं) स्त्रियों के (तं) तत्संबंधी (अंगपच्चंगसंठाणं) सिर नयन आदि आकार प्रकार और (चारुल्लवियपेहियं) सुन्दर बोलने का ढंग एवं नयनों के कटाक्ष बाण की ओर (न) न (निज्झाए) देखे।

भावार्थः—हे गौतम! ब्रह्मचारियों को कामराग बढ़ाने वाले जो स्त्रियों के हाथ पाँव आँख नाक, मुँह आदि के आकार प्रकार हैं उनकी ओर एवं स्त्रियों के सुन्दर बोलने की तरह तथा उनके नयनों के तीक्ष्ण बाणों की ओर कदापि न देखना चाहिए।

णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा,
गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेलंति जहा वा दासेहिं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति ! ब्रह्मचारी को (गंडवच्छासु) फोड़े के समान वक्षस्थल वाली (ऽणेगचित्तासु) चंचल चित्त वाली (रक्खसीसु) राक्षसी स्त्रियों में (णो) नहीं (गिज्झिज्जा) गृद्धि होना चाहिए क्योंकि (जाओ) जो स्त्रियां (पुरिसं) पुरुष को (पलोभित्ता) प्रलोभित करके (जहा) जैसे (दासेहिं) दास की (वा) तरह (खेलंति) क्रीड़ा कराता है।

भावार्थः हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को फोड़े के समान स्तनवाली एवं चंचल चित्तवाली जो बातें तो किसी दूसरे से कर और देख दूसरे ही की ओर ऐसी अनेक चित्त वाली राक्षसियों के समान स्त्रियों में कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे स्त्रियां मनुष्यों को विषम वासना का प्रलोभन दिखा कर अपनी अनेक आज्ञाओं का पालन करने में उन्हें दासों की भांति वशचित्त रखती हैं।

भोगामिसदोसविसण्णे
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे,
बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति ! (भोगामिसदोसविसण्णे) भोग रूप मांस जो आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप

है उस में आसक्त होने वाले तथा (हियनिस्सेयसबुद्धि-वोच्चत्थे) हित कारक जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने की जो बुद्धि है उस से विपरीत बर्ताव करने वाले (य) और (मंदिए) धर्म-क्रिया में आलसी (मूढे) मोह में लिप्त (बाल) ऐसे अज्ञानी कर्मों में बंध जाते हैं। और (खेलम्मि) श्लेष-कफ में (मच्छिया) मक्खी की (व) तरह (बज्झई) लिपट जाती है।

भावार्थ--हे गौतम ! विषय वासना रूप जो मांस है वही आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है। इस में आसक्त होने वाले तथा हितकारी जो मोक्ष है उसके साधन की बुद्धि से विमुख, धर्म करने में आलसी तथा मोह में लिप्त हो जाने वाले अज्ञानी जन अपने गाढ़ कर्मों में जैसे मक्खी श्लेष (कफ) में चिपट जाती है वैसे ही फंस जाते हैं।

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थे माणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥ १० ॥

अन्वयार्थ हे इन्द्रभूति ! (कामा) काम भोग (सल्लं) कांटे के समान है (कामा) कामभोग (विसं) विष के समान है (कामा) कामभोग (आसीविसोवमा) दृष्टि-विष सर्प के समान है।(कामे)कामभोगों की (पत्थेमाणा) इच्छा करने पर (अकामा) बिनाही विषय वासना सेवन किये यह जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (जंति) प्राप्त होता है।

भावार्थ--हे आर्य ! यह काम भोग चुभने वाले तीक्ष्ण कांटे के समान है; विषय वासना का सेवन करना तो

बहुत ही दूर रहा पर उसकी इच्छा मात्र करने ही में मनुष्यों की दुर्गति होती है।

खणमत्तसुक्खा बहु कालदुक्खा,
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (कामभोगा) ये काम भोग (खणमेत्तसुक्खा) क्षण मात्र के केवल भोगने के समय ही सुख के देने वाले हैं पर ये भविष्य में (बहुकालदुक्खा) बहुत काल तक के लिए दुख रूप हो जाते हैं। अतः ये विषय भोग (पगामदुक्खा) अत्यन्त दुख देने वाले और (अनिगामसुक्खा) अत्यल्प सुख के दाता हैं। (संसारमोक्खस्स) संसार से मुक्त होने वालों को ये (विपक्खभूया) विपक्षभूत अर्थात् शत्रु के समान हैं। और (अणत्थाण) अनर्थों की (खाणी उ) खदान के समान हैं।

भावार्थः-हे गौतम! फिर ये काम भोग केवल सेवन करते समय ही क्षणिक सुखों के देने वाले हैं। और भविष्य में ये बहुत वर्षों तक दुःखदायी होते हैं। इसलिए हे गौतम! ये भोग अत्यन्त दुख के कारण हैं। सुख तो इन के द्वारा प्राप्त होता है वह तो अत्यल्प ही होता है। फिर ये भोग संसार से मुक्त होने वाले के लिए पूरे पूरे शत्रु के समान होते हैं। और सम्पूर्ण अनर्थों को पैदा करने वाले हैं।

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताणं भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (किंपागफलाणं) किंपाक नामक फलों के खाने का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं है (एवं) इसी तरह (भुत्ताणं) भोगे हुए (भोगाणं) भोगों का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं होता है।

भावार्थः-हे आर्य! किंपाक नाम के फल जो भी होते हैं खाने में स्वादिष्ट सूंघने में सुगंधित और आकार प्रकार से भी मनोहर होते हैं तथापि खाने के बाद वे फल हलाहल ज़हर का काम कर बठते हैं। इसी तरह ये भोग भी भोगते समय तो क्षणिक सुख को दे देते हैं। परन्तु उस के पश्चात् ये चौरासी की चक्रफेरी में दुखों का समुद्र रूप हो सामने आ खड़े हो जाते हैं। उस समय इस आत्मा को बड़ा ही पश्चाताप करना पड़ता है।

दुपरिच्चया इमे कामा,
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू,
जे तरंति अतरं वणियावा ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (इमे) ये (कामा) कामभोग (दुपरिच्चया) मनुष्यों द्वारा बड़ी ही कठिनता से छूटने वाले होते हैं ऐसे भोग (अधीरपुरिसेहिं) कायर पुरुषों से तो (नो) नहीं (सुजहा) सुगमता से छोड़े जा सकते हैं। (अह) परन्तु (सुव्वया) सुव्रत वाले (साहू) अच्छे पुरुष जो (संति) होते हैं (जे) वे (अतरं) तिरने में कठिन ऐसे भव समुद्र को भी (वणियो) वणिक की (वा) त र ह (तरंति) तिर जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इन काम भोगों को छोड़ने में जब बुद्धिमान् मनुष्य भी बड़ी कठिनाइयां उठाते हैं तब फिर कायर पुरुष तो इन्हें सुगमता से छोड़ ही कैसे सकते हैं। अतः जो शूर वीर और धीर पुरुष होते हैं वे ही इस काम भोग रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं। उसी प्रकार संयम आदि व्रत नियमों को धारण करने वाले पुरुष ही ब्रह्मचर्य रूप जहाज के द्वारा संसार रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं।

उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥१५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (भोगेसु) भोग भोगने में कर्मों का (उवलेवो) उपलेप (होइ) होता है। और (अभोगी) अभोगी को (नोवलिप्पई) कर्मों का लेप नहीं होता है। (भोगी) विषय सेवन करने वाला (संसारे) संसार में (भमइ) भ्रमण करता है। और (अभोगी) विषय सेवन नहीं करने वाला (विप्पमुच्चई) कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! विषय वासना सेवन करने से आत्मा कर्मों के बन्धन से बंध जाती है। और उसको त्यागने से वह अलिप्त रहती है। अतः जो काम भोगों को सेवन करते हैं वे संसार चक्र में गोता लगाते रहते हैं। और जो इन्हें त्याग देते हैं। वे कर्मों से मुक्त हो कर परम सुखों के धाम पर आ पहुँचते हैं।

मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।

मेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१४॥

अन्वयार्थ हे इन्द्रभूति ! (मोक्खाभिकंखिस्स) मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले (संसारभीरुस्स) संसार में जन्म मरण करने से डरने वाले और (धम्मे) धर्म में (ठियस्स) स्थिर है आत्मा जिनकी ऐसे (माणवस्स) मनुष्य को (वि) भी (जहा) जैसे (बालमणोहराओ) मूर्खों के मन को हरण करने वाली (इत्थिओ) स्त्रियों से दूर रहना कठिन है तब (एयारिसं) ऐसे (लोए) लोक में (दुत्तरं) विषय रूप समुद्र को लांघजाने के समान दूसरा कोई कठिन (न) नहीं (अत्थि) है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मोक्ष की अभिलाषा रखते हैं और जन्म मरणों से भयभीत होते हुए धर्म में अपनी आत्मा को स्थिर किये रहते है ऐसे मनुष्यों को भी मूर्खों के मनरंजन करने वाली स्त्रियों के कटाक्षों को निष्फल करने के समान इस लोक में दूसरा कोई कठिन कार्य नहीं है।

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एए य) इस (संगे) स्त्री-प्रसंग को (समइक्कमित्ता) छोडने पर (सेसा) अवशेष धनादि का छोड़ना (चेव) निश्चय करके (सुहुत्तरा)

सुगमता से (भवति) होता है (जहा) जैसे (महासागर) मोटा समुद्र (उत्तरित्ता) तिर जाने पर (गंगासमाणा) गंगा के समान (गई) नदी (यावि) भी (भवे) सुख से पार की जा सकती है।

भावार्थः हे इन्द्रभूति ! जिसने स्त्री-संभोग का परित्याग कर दिया है उसको अवशेष धनादि के त्यागने में कोई भी कठिनाई नहीं होती अर्थात् शीघ्र ही वह दूसरे प्रपंचों से भी अलग हो सकता है। जैसे कि महासागर के परले पार जाने वाले के लिए गंगा नदी को लांघना कोई कठिन कार्य नहीं होता।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सदेवगस्स) देवता सहित (सव्वस्स) सम्पूर्ण (लोगस्स) लोक के प्राणी मात्र को (कामाणुगिद्धिप्पभवं) काम भोग की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला (खु) ही (दुक्खं) दुख लगा हुआ है (जं) जो (काइयं) कायिक (च) और (माणसियं) मानसिक (किंचि) कोई भी दुख है (तस्स) उसके (अंतगं) अन्त को (वीयरागो) चला गया है राग द्वेष जिसका वह (गच्छइ) जाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! भवनपति वाणव्यन्तर ज्योतिषी आदि सभी तरह के देवताओं से लगाकर सम्पूर्ण लोक

के छोड़ने में प्राणी तक को काम भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला दुःख सताता रहता है। उस कायिक और मानसिक दुःख का अन्त करने वाला केवल वही मनुष्य है जिसने काम भोगों से सदा के लिए अपना मुँह मोड़ लिया है।

देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दुक्करं) कठिनता से आचरण में आ सके ऐसे ब्रह्मचर्य को (जे) जो (करंति) पालन करते हैं (ते) उन (बंभयारिं) ब्रह्मचारियों को (देवदाणवगंधव्वा) देव दानव और गंधर्व (जक्खरक्खसकिन्नरा) यक्ष राक्षस और किन्नर सभी तरह के देव (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थः हे गौतम ! इस महान् ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करता है उसको देव दानव गन्धर्व यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी देव नमस्कार करते हैं।

॥ इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य अष्टमोऽध्यायः ॥

सुगमता से (भवति) होता है (जहा) जस (महासागर) मोटा समुद्र (उत्तरित्ता) तिर जान पर (गंगासमाणा) गंगा के समान (नइ) नदी (भावे) भी (भवे) सुख से पार की जा सकती है।

भावार्थः- हे इन्द्रभूति ! जिसने स्त्री-संयोग का परित्याग कर दिया है उसको अवशेष धनादि के त्यागने में कोई भी कठिनाई नहीं होती, अर्थात्-शीघ्र ही वह दूसरे प्रपंचों से भी अलग हो सकता है। जैसे कि महासागर के परले पार जाने वाले के लिए गंगा नदी को लांघना कोई कठिन कार्य नहीं होता।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सदेवगस्स) देवता सहित (सव्वस्स) सम्पूर्ण (लोगस्स) लोक के प्राणी मात्र को (कामाणुगिद्धिप्पभवं) काम भोग की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला (खु) ही (दुक्खं) दुःख लगा हुआ है (जं) जो (काइयं) कायिक (च) और (माणसियं) मानसिक (किंचि) कोई भी दुःख है (तस्स) उसके (अंतगं) अन्त को (वीयरागो) कहा गया है राग द्वेष जिसका वह (गच्छइ) जाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! भवनपति वाणव्यन्तर ज्योतिषी आदि सभी तरह के देवताओं से लगाकर सम्पूर्ण लोक

के छोटे से प्राणी तक को काम भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला दुख सताता रहता है। उन कायिक और मानसिक दुख का अन्त करने वाला केवल वही मनुष्य है जिसने काम भोगों से सदा के लिए अपना मुँह मोड़ लिया है।

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (दुक्करं) कठिनता से आचरण में आ सके ऐसे ब्रह्मचर्य को (जे) जो (करंति) पालन करते हैं (ते) उन (बंभयारिं) ब्रह्मचारियों को (देवदाणवगंधव्वा) देव दानव और गंधर्व (जक्खरक्खसकिन्नरा) यक्ष राक्षस और किन्नर सभी तरह के देव (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! इस महान् ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करता है उसको देव दानव गन्धर्व यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी देव नमस्कार करते हैं।

॥ इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य अष्टमोऽध्यायः ॥

णीय कहा है। (य) और इस मृषावाद से (भूयाणं) प्राणियों को (अविस्सासो) अविश्वास होता है। (तम्हा) इसलिए (मोसं) झूठ को (विवज्जए) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम! इस लोक में हिंसा के सिवाय और भी जो मृषावाद (झूठ) है, वह अच्छे पुरुषों के द्वारा निन्दनीय बताया गया है। और यह झूठ अविश्वास का पात्र भी है। इसलिए साधु पुरुष झूठ बोलना आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि, उग्गहंसि अजाइया॥३॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति! (अप्पं) अल्प (जइवा) अथवा (बहुं) बहुत (चित्तमंत) सचेतन (वा) अथवा (अचित्तं) अचेतन (दंतसोहणमेत्तंपि) दंत-शोधन के समान जितने भी पदार्थ है उन्हें भी (अजाइया) याचे बिना ग्रहण नहीं करते हैं। (उग्गहंसि) पडियारी वस्तु तक भी गृहस्थ के दिये बिना वे नहीं लेते हैं।

भावार्थ-हे गौतम! चेतन वस्तु जैसे शिष्य अचेतन वस्तु वस्त्र पात्र वगैरह यहां तक कि दांत कुचरने की काड़ी वगैरह भी गृहस्थ के दिये बिना जो साधु होते हैं, वे कभी ग्रहण नहीं करते हैं और अवग्रहिक पडियारी वस्तु (An article of use (for a monk) to be used for a time and then to be returned to its owner) अर्थात् कुछ समय तक रख कर पीछी सौंपदे उन चीजों

अध्याय नौवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥ १॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (सव्वे) सभी (जीवा) जीव (जीविउं) जीने की (इच्छंति) इच्छा करते हैं (वि) पर (मरिज्जिउं) मरने को कोई जीव (न) नहीं चाहता है। (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु (घोरं) रौद्र (पाणिवहं) प्राणवध को (वज्जयंति) छोड़ते हैं। (णं) वाक्यालंकार।

भावार्थ—हे गौतम! सब छोटे बड़े जीव जीने की इच्छा करते हैं पर कोई मरने की इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि जीवित रहना सब को प्रिय है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु महान् दुख के हेतु प्राणी वध को यावज्जीवन के लिए छोड़ देते हैं।

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (लोगम्मि) इस लोक में (य) हिंसा के सिवाय और (मुसावाओ) मृषावाद को भी (सव्वसाहूहिं) सब अच्छे पुरुषों ने (गरिहिओ) निन्-

भावार्थः–हे गौतम ! लोभ चारित्र के सम्पूर्ण गुणों को नाश करने वाला है; इसीलिए इस की इतनी महत्ता है तीर्थंकरों ने ऐसा माना है। और कहा है कि गुड़ घी, शक्कर आदि वस्तुओं में से किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरों के पास रखवा लेवें तो वह गृहस्थ भी नहीं है। क्योंकि उसके पहन ने का वेष साधुका है। और वह साधु भी नहीं है क्योंकि जो साधु होते हैं; उनके लिए उपयुक्त कोई भी चीजें रात रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है। अतएव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोइ वस्तु का भी संग्रह करके न रखना चाहिए।

जं पि वत्थं व पायं वा, कम्बलं पायपुच्छणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरंति य ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (पि) भी (वत्थं) वस्त्र (व) अथवा (पायं) पात्र (वा) अथवा (कम्बलं) ऊन का वस्त्र (पायपुच्छणं) पग पोंछने का वस्त्र (तं) उसको (पि) भी (संजमलज्जट्ठा) संयम लज्जा 'रक्षा' के लिए (धारेंति) लेते हैं (य) और (परिहरंति) पहनते हैं

भावार्थः–हे गौतम ! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नहीं रखना और वस्त्र पात्र वगैरह साधु रखते हैं तो भला लोभ संबंध में इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है हाँ यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है। किन्तु जो संयम रखने वाला साधु है; वह केवल संयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वगैरह लेता है। और पहनता है। इसलिए संयम

को भी गृहस्थों के दिये बिना साधु कभी नहीं लेते हैं।

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (एयं) यह (मेहुणसंसग्गं) मैथुन विषयक संसर्ग (अहम्मस्स) अधर्म का (मूलं) मूल है । और (महादोससमुस्सयं) महान् दूषित विचारों को अच्छी तरह से बढ़ाने वाला है । (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु मैथुन संसर्ग को (वज्जयंति) छोड़ देते हैं । (णं) वाक्यालंकार में ।

भावार्थ—हे गौतम ! यह अब्रह्मचर्य अधर्म उत्पन्न कराने में परम कारण है । और हिंसा, झूठ, चोरी, कपट आदि महान् दोषों को खूब बढ़ाने वाला है । इसलिए निर्ग्रन्थ पालने वाले महापुरुष सब प्रकार से मैथुन संसर्ग का परित्याग कर देते हैं ।

लोभस्सेसमणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से ॥५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (लोभस्स) लोभ की (एस) यह (अणुफासे) महत्ता है कि (अन्नयरामवि) गुड़ घी शक्कर आदि में से कोई एक पदार्थ का भी (जे) जो साधु होकर (सिया) कदाचित् (सन्निहीकामे) अपने पास रात भर रखने की इच्छा कर ले तो (से) वह (न) न तो (गिही) गृहस्थी है और न (पव्वइए) प्रव्रजित साधु ही है ऐसा तीर्थंकर (मन्ने) मानते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! लोभ चारित्र के सम्पूर्ण गुणों को नाश करने वाला है; इसीलिए इस की इतनी महत्ता है तीर्थंकरों ने ऐसा माना है; और कहा है, कि गुड़ भी, शक्कर आदि वस्तुओं में से किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरों के पास रखवा लेवें तो वह गृहस्थ भी नहीं है। क्योंकि उसके पहन ने का वेष साधुका है। और वह साधु भी नहीं है क्योंकि जो साधु होते हैं; उनके लिए उपयुक्त कोई भी चीजें रात रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है। अतएव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोइ वस्तु का भी संग्रह करके न रखना चाहिए।

जं पि वत्थं व पायं वा, कम्बलं पायपुञ्छणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरंति य ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (पि) भी (वत्थं) वस्त्र (व) अथवा (पायं) पात्र (वा) अथवा (कम्बलं) ऊन का वस्त्र (पायपुञ्छणं) पग पोंछने का वस्त्र (तं) उसको (पि) भी (संजमलज्जट्ठा) संजम लज्जा 'रक्षा' के लिए (धारेंति) लेते हैं (य) और (परिहरंति) पहनते है

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नहीं रखना और वस्त्र पात्र वगैरह साधु रखते हैं तो भला लोभ संबंध में इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है हाँ यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है। किन्तु जो संयम रखने वाला साधु है; वह केवल संयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वगैरह लेता है। और पहनता है। इसलिए संयम

कर ले (भासिर्य) कहा है। (निर्ग्रन्था) निर्ग्रन्थ जो हैं वे (सव्वहारं) सब प्रकार के आहार को (राइभोयणं) रात्रि के भोजन अर्थात् रात्रि में (नो) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! रात्रि के समय भोजन करने में कई तरह के जीव भी खाने में आ जाते हैं। अतः उन जीवों की भोजन करने वालों से हिंसा हो जाती है। और वे फिर कई तरह के रोग भी पैदा कर बैठते हैं। अतः रात्रि भोजन करने में ऐसा दोष देख कर वीतरागों ने उपदेश किया है, कि जो निर्ग्रन्थ Possessionless or passionless ascetic होते हैं वे सब प्रकार से खाने पीने की कोई भी वस्तु का रात्रि में सेवन नहीं करते हैं।

> पुढविं न खणे न खणावए,
> सीओदगं न पिए न पियावए ।
> अगणि सत्थं जहा सुनिसियं,
> तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (पुढविं) पृथ्वी को स्वयं (न) नहीं (खणे) खोदे औरों से भी (न) न (खणावए) खुदवावे (सीओदगं) शीतोदक-सचित्तजल को (न) नहीं पीवे औरों को भी (न) न (पियावए) पिलावे (जहा) जैसे (सुनिसियं) खूब अच्छी तरह तीक्ष्ण (सत्थं) शस्त्र होता है उसी तरह (अगणि) अग्नि है (तं) उसको स्वयं (न) नहीं (जले) जलावे औरों से भी (न) न (जलावए) जलवावे (स) वही (भिक्खू) साधु है।

ate thing, as water, flower fruit, greengrass etc.) पदार्थों का कभी आहार नहीं करता, वही साधु है।

महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (महुकारसमा) जिस-प्रकार थोड़ा थोड़ा रस लेकर भ्रमर जीवन बिताते हैं ऐसे ही (जे) जो (दंता) इन्द्रियों को जीतते हुए (नाणा-पिंडरया) नाना प्रकार के आहार में उद्वेग रहित रत रहने वाले हैं ऐसे (बुद्धा) तत्वज्ञ (अणिस्सिया) ममत्व रहित (भवंति) होते हैं (तेण) उस करके उनको (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर से थोड़ा थोड़ा रस लेकर अपना जीवन बिताता है। इसी तरह जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुए तीखे कडुवे, मधुर आदि नाना प्रकार के भोजनों में उद्वेग रहित होते हैं। तथा जो समय पर जैसा भी निर्दोष भोजन मिला उसी को खाकर आनंद मय संयमी जीवन को ममत्व रहित हो कर बिताते हैं, उन्हीं को हे गौतम ! साधु कहते हैं।

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो कोई गृहस्थ साधु को (न) नहीं (वंदे) वन्दना करता (से) वह साधु उस,

भावार्थ—हे गौतम ! सर्वथा हिंसा से जो बचना चाहता है। वह न स्वयं पृथ्वी को खोदे और न औरों से भी खुदवावे। इसी तरह न सचित्त (जिस में जीव हो ऐसा) जल का स्वयं पीवे और न औरों को पिलावे। इसी तरह न अग्नि को भी स्वयं प्रदीप्त करे और न औरों ही से प्रदीप्त करवावे बस वही साधु है।

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (अनिलेण) वायु के हेतु पंखे को (न) नहीं (वीए) चलाता है और (न) न औरों से ही (वीयावए) चलवाता है (हरियाणि) वनस्पतियों को स्वतः (न) नहीं (छिंदे) छेदता और (न) न औरों ही से (छिंदावए) छिदवाता है (बीयाणि) बीजों को छेदना (सया) सदा (विवज्जयंतो) छोड़ता हुआ (सच्चित्तं) सचित्त पदार्थ को जो (न) न (आहारए) खाता है। (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थ—हे गौतम ! जिसने इन्द्रिय-जन्य सुखों की ओर से अपना मुँह मोड़ लिया है वह कभी भी हवा के लिये पंखे का न स्वतः प्रयोग करता है और न औरों से उस का प्रयोग करवाता है। और घास, वृक्ष, आदि वनस्पतियों का भक्षण छोड़ता हुआ सचित्त (An anim-

ate thing; as water, flower fruit, greengrass etc,) पदार्थों का कभी आहार नहीं करता, वही साधु है।

महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिण्डरया दंता, तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (महुकारसमा) जिस-प्रकार थोड़ा थोड़ा रस लेकर भ्रमर जीवन बिताते हैं ऐसे ही (जे) जो (दंता) इन्द्रियों को जीतते हुए (नाणा-पिंडरया) नाना प्रकार के आहार में उद्वेग रहित रत रहने वाले हैं ऐसे (बुद्धा) तत्त्वज्ञ (अणिस्सिया) ममत्व रहित (भवंति) होते हैं (तेण) उस करके उनको (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर से थोड़ा थोड़ा रस लेकर अपना जीवन बिताता है। इसी तरह जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुए तीखे कडुवे, मधुर आदि नाना प्रकार के भोजनों में उद्वेग रहित होते हैं। तथा जो समय पर जैसा भी निर्दोष भोजन मिला उसी को खाकर आनंद मय अपनी जीवन को अप्रतिबद्ध हो कर बिताते हैं, उन्हीं को हे गौतम ! साधु कहते हैं।

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एयमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो कोई गृहस्थ साधु को (न) नहीं (वंदे) वन्दना करता (से) वह साधु उस

भावार्थः—हे गौतम ! तीक्ष्ण बुद्धि करके सहित हो, प्रश्न करने पर जो शास्त्रता से उत्तर देने में समर्थ हो समता भाव से जो धर्म कथा करता हो चारित्र में सूक्ष्म रीति से भी जो विराधक न हो ताड़ने तर्जने पर क्रोधित और सत्कार करने पर गर्वान्वित जो न होता हो सचमुच में वही साधु पुरुष है।

> न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
> णण्णत्थ विज्जा चरणं सुचिण्णं ।
> णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं,
> ण से पारए होइ विमोयणाए ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सुचिण्णं) अच्छी तरह संग्रह किया हुआ (विज्जा) ज्ञान (चरणं) चारित्र के सिवाय (णण्णत्थ) दूसरा कोई नहीं (तस्स) उसके (जाई) जाति (व) और (कुलं) कुल (ताणं) शरण (न) नहीं होता है। जो (से) वह (णिक्खम्म) संसार प्रपंच से निकल कर (गारिकम्मं) पुनः गृहस्थ कर्म (सेवइ) सेवन करता (से) वह (विमोयणाए) कर्म मुक्त करने के लिये (पारए) संसार से परले पार (ण) नहीं (होइ) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! साधु हो कर जाति और कुल का जो मद करता है इस में उसकी साधुता नहीं है। प्रत्युत वह गर्व प्राय मूल न हो कर हीन जाति और कुल में पैदा करने की सामग्री एकत्रित करता है। केवल ज्ञान एवं क्रिया के सिवाय और कुछ भी परलोक में हित पथ लिए नहीं

८। पार साधु हो कर गृहस्थ जैसे कार्य फिर करता है वह संसार समुद्र से पार पार होने में समर्थ नहीं है।

पय ण से होइ समाहिपत्ते,

जे पन्नव भिक्खु विउक्कसेज्जा।

अहवा वि जे लाभमयावलित्ते,

अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति ! (एव) इस प्रकार से (से) वह गर्व करने वाला साधु (समाहिपत्ते) समाधि मार्ग को प्राप्त (ण) नहीं (होइ) होता है। और (जे) जो (पन्नव) प्रज्ञावान (भिक्खु) साधु हो कर (विउक्कसेज्जा) आत्म प्रशंसा करता है। (अहवा) अथवा (जे) जो (लाभमयाव लित) लाभ मद में लिप्त हो रहा है वह (बालपन्ने) मूर्ख (अन्न) अन्य (जण) जनकी (खिंसति) निन्दा करता है।

भावार्थ हे गौतम ! मैं जातिवान् हूँ कुलवान् हूँ। इस प्रकार का गर्व करने वाला साधु समाधि मार्ग को कभी प्राप्त नहीं होता है। जो बुद्धिमान् हो कर फिर भी अपने आपही की आत्म प्रशंसा करता है अथवा यों कहता है कि मैं ही साधुओं के लिए वस्त्र, पात्र आदि का प्रबंध करता हूँ। बेचारा दूसरा क्या कर सकता है ? वह तो पेट भरने तक की चिन्ता दूर नहीं कर सकता इस तरह दूसरों की निन्दा जो करता है वह साधु कभी नहीं है।

न पूयणं चेव सिलोयकामी,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! साधु (पूयणं) वस्त्र पात्रादि की (न) इच्छा न करे (चेव) और न (सिलोयकामी) आत्म प्रशंसा का कामी ही हो (कस्सइ) किसी के साथ (पियमप्पियं) राग और द्वेष (णो) न (करेज्जा) करे (सव्वे) सभी ऐसी (अणट्ठे) अनर्थकारी बातों को को (परिवज्जयंते) छोड़ दे (अणाउले) फिर भय रहित (या) और (अकसाइ) कषाय रहित होकर (भिक्खू) साधु प्रवचन करे ।

भावार्थः—हे गौतम ! साधु प्रवचन करते समय वस्त्रादि की प्राप्ति की एवं आत्म प्रशंसा की वांछा कभी न रक्खे । या किसी के साथ राग और द्वेष से संबंध रखने वाले कथन को भी वह न करे । इस प्रकार आत्मा कलुषित करने वाली सभी अनर्थकारी बातों को छोड़ते हुए भय एवं कषाय रहित हो कर साधु को प्रवचन करना चाहिए ।

आए सद्धाए निक्खन्तो, परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिय सम्मए ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जाए) जिस (सद्धाए) श्रद्धा से (उत्तमं) प्रधान (परियायट्ठाणं) प्रव्रज्यास्थान प्राप्त करने को (निक्खंतो) मायामय कर्मों से निकला

(सद्धाए) श्रद्धा द्वारा उत्तम भावनाओं से (आयरियसम्मए) तीर्थंकर कथित ([1]गुणे) गुणों की (अणुपालिज्जा) पालना करनी चाहिए।

भावार्थ — हे गौतम ! जो गृहस्थ जिस श्रद्धा से प्रधान दीक्षा ग्रहण प्राप्त करने को मायामय काम रूप संसार से पृथक् हुआ उसी भावना से जीवन पर्यंत उसको तीर्थंकर प्ररूपित गुणों में वृद्धि करते रहना चाहिए।

॥ इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य नवमोऽध्यायः ।

(१) सप्तमी के अर्थ में षष्ठी है।

❀ अध्याय दसवां ❀

॥ श्री भगवानुवाच ॥

दुमपत्तए पंडुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १ ॥
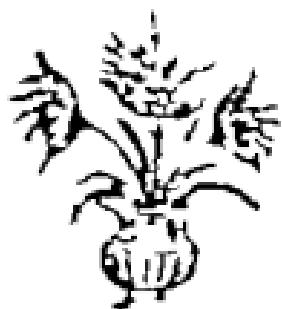
अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (राइगणाण अच्चए) रात दिन के समूह बीत जाने पर (पंडुयए) पक जाने से (दुमपत्तए) वृक्ष का पत्ता (निवडइ) गिर जाता है (एवं) ऐसे ही (मणुयाणं) मनुष्यों का (जीवियं) जीवन है। अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) जरा से समय मात्र के लिए भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! जैसे समय पा कर वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं, फिर वे पक कर गिर जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है। अतः हे गौतम ! धर्म का पालन करने में एक क्षण मात्र को भी व्यर्थ मत गवाँओ।

कुसग्गे जह ओसबिंदुए,
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।

एवं मणुआण जीविअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (कुसग्गे) कुश के अग्रभाग पर (लंबमाणए) अवलम्बित हुई (ओसबिंदुए) ओस की बूँद (थोवं) अल्प समय (चिट्ठइ) रहती है (एवं) इसी प्रकार (मणुआणं) मनुष्य का (जीविअं) जीवन है। अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) एक समय मात्र (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे घास के अग्रभाग पर ठहरी ओस की बूँद थोड़े ही समय तक टिक सकती है। ऐसे ही मानव शरीर धारियों का जीवन है। अतः हे गौतम ! जरा से समय के लिए भी गाफिल मत रह।

इइ इत्तरिअम्मि आउए,
जीविअए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरेकडं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (इइ) इस प्रकार (आउए) निरुपक्रम आयुष्य (इत्तरिअम्मि) अल्प काल का होता हुआ और (जीविअए) जीवन सोपक्रमी होता हुआ (बहुपच्चवायए) बहुत विघ्नों से घिरा हुआ समझ करके (पुरेकडं) पहले की हुई (रयं) कर्म रूपी रजको (विहुणाहि) दूर करो इस कार्य में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसे शस्त्र विष, आदि उपक्रम भी बाधा नहीं पहुँचा सकते ऐसा नोपक्रमी आयुष्य भी थोड़ा होता है। और शस्त्र, विष आदि से जिसे बाधा पहुँच सके ऐसा सोपक्रमी जीवन भी थोड़ा ही है। उस में भी ज्वर खाँसी आदि अनेक व्याधियों का विघ्न भरा पड़ा होता है। ऐसा समझ कर हे गौतम ! पूर्व के किये हुए कर्मों को दूर करने में क्षण भर समय का भी दुरुपयोग न करो।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (सव्वपाणिणं) सब प्राणियों को (चिरकालेण वि) बहुत काल से भी (खलु) निश्चय करके (माणुसे) मनुष्य (भवे) भव (दुल्लहे) मिलना कठिन है। (य) क्योंकि (कम्मुणो) कर्मों के (विवाग) विपाक को (गाढा) नाश करना कठिन है। अतः (गोयम !) हे गौतम !(समयं)समय मात्र का(मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! जीवों को एकेन्द्रिय आदि योनियों में इधर उधर जन्मते मरते हुए बहुत काल गया। परन्तु दुर्लभ मनुष्य जन्म नहीं मिला। क्योंकि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने में जो रोड़ा अटकाते हैं ऐसे कर्मों का विपाक नाश करने में महान् कठिनाई है। अतः हे गौतम ! मानव देह पा कर पल भर का भी प्रमाद कभी मत कर।

बसे) रहता है। अतः (गोयम) हे गौतम (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ॥ ६ ॥ इसी तरह (तेउकायमइगओ) अग्निकाय को प्राप्त हुआ जीव और (वाउकायमइगओ) वायुकाय को प्राप्त हुआ जीव असंख्य काल तक रह जाता है।

भावार्थः--हे गौतम ! इसी तरह यह आत्मा उक्त अभि सया हवा में असंख्य काल तक जन्म मरण को धारण करती रहती है। इसीलिए तो कहा जाता है कि मानव जन्म मिलना महान् कठिन है। अतएव हे गौतम ! तुझे धर्म का पालन करने में तनिक भी शाफिल न रहना चाहिए।

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालमणंतं दुरंतयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (वणस्सइकायमइगओ) वनस्पति काय में गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (दुरंतयं) कठिनाई से अन्त आवे ऐसा (अणंतं) अनंत (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम ! यह आत्मा वनस्पतिकाय में अपने कृत कर्मों द्वारा जन्म मरण करती है तो उत्कृष्ट अनंत काल तक उसी में गोता लगाया करती है। और इसी से उस आत्मा को मानव शरीर मिलना कठिन हो जाता है। इस लिए हे गौतम ! पल भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

है। इसलिए मानव-देह-धारी हे गौतम ! अपनी आत्मा को उत्तम अवस्था में पहुँचाने के लिए तनिक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

> लद्धूणवि माणुसत्तणं,
> आरिअत्तं पुणरवि दुल्लहं।
> बहवे दसुआ मिलक्खुआ
> समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (माणुसत्तणं) मनुष्यत्व (लद्धूणवि) प्राप्त होने पर भी (पुणरवि) फिर (आरिअत्तं) आर्यत्व का मिलना (दुल्लहं) दुर्लभ है। क्योंकि (बहवे) बहुतों को यदि मनुष्य भव मिल भी गया तो वे (दसुआ) चोर और (मिलक्खुआ) म्लेच्छ हो गये अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! यदि इस जीव को मनुष्य जन्म मिल भी गया तो आर्य देश में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त होना महान् दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से नाम मात्र के मनुष्य पर्वतों की कन्दराओं में रह कर चोरी वगैरह करके अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे नाम मात्र की मनुष्यों की कोटि में चोर म्लेच्छ जाति में जहां कि घोर हिंसा के कारण शिर कभी ऊंचा नहीं उठता ऐसी जाति और देश में जीवने मनुष्य देह पा भी ली तो किस काम की ! इसलिए आर्य देश में जन्म लेने वाले हे गौतम ! एक पल भर का भी प्रमाद मत कर।

है। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम! पाँचों इन्द्रियों की सम्पूर्णतावाले को आर्य देश में मनुष्य जन्म भी मिल गया तो अच्छे शास्त्र का श्रवण मिलना और भी कठिन है। क्योंकि बहुत से मनुष्य जो इस लौकिक सुखों को ही धर्म का रूप देने वाले हैं कुतीर्थी रूप हैं। नाम मात्र के गुरु कहलाते हैं। उन की उपासना करने वाले हैं। इसलिए उत्तम शास्त्र श्रोता हे गौतम! कर्मों का नाश करने में तनिक भी ढील मत कर।

लद्धूणवि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरवि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे,
समयं गोयम! मा पमायए ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूते! (उत्तमं) प्रधान शास्त्र (सुइं) श्रवण (लद्धूण वि) मिलने पर भी (पुणरवि) पुनः (सद्दहणा) उस पर श्रद्धा होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। क्योंकि (जणे) बहुत से मनुष्य (मिच्छत्तनिसेवए) मिथ्यात्व का सेवन करते हैं। अतः (गोयम) हे गौतम! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः हे गौतम! सत्शास्त्र का श्रवण भी हो जाय तो भी उस पर श्रद्धा होना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं। जो सत्शास्त्र श्रवण करके भी मिथ्यात्व का बड़े ही जोरों के साथ सेवन करते हैं। अतः हे श्रद्धावान् गौतम! सिद्धावस्था को प्राप्त करने में आलस्य कभी मत कर।

धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (धम्मं पि) धर्म को भी (सद्दहंतया) श्रद्धा हुए (काएण) काया करके (फासया) स्पर्श करना (दुल्लहया) दुर्लभ है (हु) क्योंकि (इह) इस संसार में मनुष्य जन (कामगुणेहिं) भोगादि के विषयों से (मुच्छिया) मूर्च्छित हो रहे हैं अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थ—हे गौतम ! प्रधान धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसके अनुसार चलना बड़ा ही कठिन है । धर्म को श्रवण करने वाले बातें तो बहुत लोग मिलेंगे पर उसके अनुसार आचरण करके दिखाने वाले बहुत ही थोड़े देखे जावेंगे । क्योंकि इस संसार के काम भोगों से मोहित हो कर अनेकों प्राणी अपना अमूल्य समय अपने हाथों खो रहे हैं । इसलिए श्रद्धापूर्वक क्रिया करने वाले हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायई,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (ते) तेरा (सरीरयं) शरीर (परिजूरइ) जीर्ण होने वाला है। (ते) तेरे (केसा) बाल (पंडुरया) सफेद (हवंति) होते जा रहे हैं। (य) और (से) वह शक्ति जो पहले थी (सोयबले) श्रोतेन्द्रिय की शक्ति अथवा "सव्वबले" कान नाक, आँख जिह्वा आदि की शक्ति (हायई) हीन होती जा रही है। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! आये दिन तेरी वृद्धावस्था निकट आती जा रही है। बाल सफेद होते जा रहे हैं। और कान नाक आँख जीभ शरीर हाथ पैर आदि की शक्ति भी पहले की अपेक्षा न्यून होती जा रही है। अतः हे गौतम ! समय को अमूल्य समझ कर धर्म का पालन करने में क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

अरई गंडं विसूइया
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अरई) चित्त को उद्वेग (गंडं) गाँठ गूमड़े (विसूइया) दस्त उल्टी और (विविहा) विविध प्रकार के (आयंका) प्राण घातक रोगों को (ते) तेरे जैसे ये बहुत से मानव शरीर (फुसंति) स्पर्श करते हैं (ते सरीरयं) तेरे जैसे ये बहुत मानव-शरीर (विहडइ) बल की हीनता से गिरते जा रहे हैं। और (विद्धंसइ) अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (हि) यदि तूने (धण) धन (च) और (भारियं) भार्या को (चिच्चा) छोड़ कर (अणगारियं) साधु पन को (पव्वइओसि) प्राप्त कर लिया है। अतः (वंत) वमन किये हुए को (पुणो वि) फिर भी (मा) मत (आविए) पी प्रत्युत त्याग वृत्ति को निर्मल रखने में (गोयम!) हे गौतम! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम! तूने धन और स्त्री को त्याग कर साधु वृत्ति को धारण करने की मन में इच्छा करली है। तो उन त्यागे हुए विषैले पदार्थों का पुनः सेवन करने की इच्छा मत कर। प्रत्युत त्याग वृत्ति को दृढ़ करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

न हु जिणे अज्ज दिसई,
बहुमए दिसइ मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम! मा पमायए ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अज्ज) आज (जिणे) तीर्थंकर (न) नहीं हैं (हु) निश्चय करके (दिसई) दिखते हैं किन्तु (मग्गदेसिए) मार्ग दर्शक और (बहुमए) बहुतों का माननीय मोक्षमार्ग (दिसई) दिखता है। ऐसा कह कर पंचम काल के लोग धर्म ध्यान करेंगे। तो भला (संपइ) वर्तमान् में मेरे मौजूद होते हुए (नेयाउए) नैयायिक (पहे) मार्ग में (गोयम!) हे गौतम! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

अबेल जह मारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (अबले) बल रहित (मारवाहए) बोझा ढोने वाला मनुष्य (विसमे) विषम (मग्गे) मार्ग में (अवगाहिया) प्रवेश हो कर (पच्छा) फिर (पच्छाणुतावए) पश्चात्ताप करता है। (मा) ऐसा मत बन। परन्तु जो सरल मार्ग मिला है उसको तय करने में (गोयम!) हे गौतम! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे एक दुर्बल आदमी बोझा उठा कर विकट मार्ग में चले जाने पर महान् पश्चात्ताप करता है। ऐसे ही जो नर मतपक्षों के द्वारा प्रकल्पित सिद्धान्तों को ग्रहण कर कुपंथ के पथिक होंगे। वे चौरासी की चक्र फेरी में जा पड़ेंगे। और वहां वे महान् कष्ट उठावेंगे। अतः पश्चात्ताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने में हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (महं) बड़ा (अण्णवं) समुद्र (तिण्णो हु सि) मानो तू पार कर गया (पुण)

अबेल जह मारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (अबले) बल रहित (मारवाहए) बोझा ढोने वाला मनुष्य (विसमे) विषम (मग्गे) मार्ग में (अवगाहिया) प्रवेश हो कर (पच्छा) फिर (पच्छाणुतावए) पश्चाताप करता है । (मा) ऐसा मत बन । परन्तु जो सरल मार्ग मिला है उसको तय करने में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे-एक दुर्बल आदमी बोझा उठा कर विकट मार्ग में चले जाने पर महान् पश्चाताप करता है । ऐसे ही जो नर भवपक्षों के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को ग्रहण कर कुपंथ के पथिक होंगे । वे चौरासी की चक्र फेरी में जा पड़ेंगे । और वहाँ वे महान् कष्ट उठावेंगे । अतः पश्चाताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने में हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (महं) बड़ा (अण्णवं) समुद्र (तिण्णो हु सि) मानो तू पार कर गया (पुण)

फिर (तीरमागओ) किनारे पर आया हुआ (कि) क्यों (चिट्ठसि) रुक रहा है। अतः (पारं) परले पार (गमित्तए) जाने के लिए (अभितुर) शीघ्रता कर ऐसा करने में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं)समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! अपने आप को संसार रूप महा समुद्र के पार गया हुआ समझकर फिर उस किनारे पर ही क्यों रुक रहा है। परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति में जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने में हे गौतम ! एक क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

अकलेवर सेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अकलेवरसेणिं) कलेवर रहित होने में सहायक भूत श्रेणी को (ऊसिया) बढ़ा कर अर्थात् प्राप्त कर (खेमं) पर चक्र का भय रहित (च) और (सिवं) उपद्रव रहित (अणुत्तरं) प्रधान (सिद्धिं) सिद्धि (लोयं) लोक को (गच्छसि) जाता ही है फिर (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! सिद्ध पद पाने में जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपक श्रेणी सहायक भूत है उसे पाकर, एवं उ

उत्तरोत्तर उसे बढ़ाकर भय एवं उपद्रव रहित अटल सुखों का जो स्थान है वहीं तुझे जाना है। अतः हे गौतम ! धर्म आराधना करने में पल मात्र की भी ढील मत कर। इस प्रकार निर्ग्रन्थ की ये सम्पूर्ण शिक्षाएँ। प्रत्येक मानव-देह-धारी को अपने लिए भी समझनी चाहिए। और धर्म की आराधना करने में पल भर का भी प्रमाद कभी न करना चाहिए।

इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य दशमोऽध्यायः

फिर (तीरमागओ) किनारे पर आया हुआ (कि) क्यों (चिट्ठसि) रुक रहा है। अतः (पार) परले पार (गमित्तए) जाने के लिए (अभितुर) शीघ्रता कर ऐसा करने में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं)समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम ! अपने आप को संसार रूप महान समुद्र के पार गया हुआ समझकर फिर उस किनारे पर ही क्यों रुक रहा है। परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति में जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने में हे गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

अकलेवर सेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अकलेवरसेणिं) कलेवर रहित होने में सहायक भूत श्रेणी को (ऊसिया) बढ़ा कर अर्थात् प्राप्त कर (खेमं) पर चक्र का भय रहित (च) और (सिवं) उपद्रव रहित (अणुत्तर) प्रधान (सिद्धिं) सिद्धि (लोयं) लोक को (गच्छसि) जाता ही है फिर (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ—हे गौतम! सिद्ध पद पाने में जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपक श्रेणी सहायक भूत है उसे पाकर एवं उ-

भाषा (च) और (असावज्जं) वध्य रहित (अकक्कसं) कर्कश रहित (असंदिद्धं) संदेह रहित (समुप्पेहं) विचार कर ऐसी (सच्चं) सत्य (गिरं) भाषा (पण्णवं) बुद्धिमानों को (भासिज्ज) बोलना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम! सत्य भी नहीं असत्य भी नहीं, ऐसी व्यावहारिक भाषा जैसे यह गांव आ रहा है आदि और किसी को कष्ट न पहुँचे वैसी एवं कर्कश कठोरता तथा संदेह रहित ऐसी भाषा को भी बुद्धिमान् पुरुष समयानुसार विचार कर बोलते हैं।

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (तहेव) वैसे ही (फरुसा) कठोर (गुरुभूओवघाइणी) अनेकों प्राणियों को नाश करने वाली (सच्चा वि) सत्य भी है तो (सा) वह भाषा (न) नहीं (वत्तव्वा) बोलने के योग्य है। क्योंकि (जओ) उस के बोलने से भी (पावस्स) पाप का (आगमो) आगमन होता है।

भावार्थः-हे गौतम! जो मनुष्य कहलाते हैं उनके लिए कठोर एवं जिस से अनेकों प्राणियों की हिंसा हो ऐसी सत्य भाषा भी बोलने योग्य नहीं होती है। यद्यपि वह सत्य भाषा है, तदपि वह हिंसा कारी भाषा है उसके बोलने से पाप का आगमन होता है जिस से आत्मा भारवान् बनती है।

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥४॥

अध्याय ग्यारहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिऽणाइण्णा, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जा) जो (सच्चा) सत्य भाषा है तदपि वह (अवत्तव्वा) नहीं कहने योग्य (य) और (जा) जो (सच्चामोसा) कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा (य) और (मुसा) झूठ इस प्रकार (जा) जिन भाषाओं को (बुद्धेहि) तीर्थंकरों ने (अणाइण्णा) आचरने के योग्य नहीं कही (तं) उन भाषाओं को (पन्नवं) प्रज्ञावान् पुरुष (न भासिज्ज) कभी नहीं बोलते।

भावार्थः-हे गौतम! सत्य भाषा होते हुए भी यदि सावद्य है तो वह बोलने के योग्य नहीं है और कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा तथा बिलकुल असत्य ऐसी जो भाषाएँ हैं जिनको कि तीर्थंकरों ने बोलने के लिए निषेध किया है ऐसी भाषा बुद्धिमान् मनुष्य को कभी नहीं बोलना चाहिये।

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (असच्चमोसं) व्यावहारिक

मान् मनुष्य, ज्ञानी जन जो होते हैं वे किसी को नाराज़ नहीं करते हैं।

> तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
> ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
> से कोह लोह भयसा व माणवो,
> न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (माणवो) मनुष्य (हासमाणो) हँसता हुआ (वि) भी (गिरं) भाषा को (न) न (वएज्जा) बोले (य) और (तहेव) वैसे ही (से) वह (कोह) क्रोध से (लोह) लोभ से (भय) भय से (सावज्जणुमोयणी) सावद्य अनुमोदन के साथ (ओहारिणी) निश्चित और (परोवघाइणी) दूसरे जीवों को नाश करने वाली ऐसी (जा) जो (गिरा) भाषा है उस को न बोले।

भावार्थः-हे गौतम! बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो हर हर हँसता हुआ भी कभी नहीं बोलता है और इसी तरह सावद्य भाषा का अनुमोदन करके तथा निश्चयकारी और दूसरे जीवों को नाश करने वाली भाषा कभी नहीं बोलता है।

> अपुच्छिओ न भासेज्जा,
> भासमाणस्स अन्तरा।
> पिट्ठिमंसं न खाएज्जा,
> मायामोसं विवज्जए ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति! बुद्धिमान मनुष्यों को (मा-

पीड़ा को खुशी खुशी सहन कर जाते हैं। परन्तु उन्हें वचन रूपी कण्टक सहन होना बड़ाही कठिन मालूम होता है। तो फिर आशा रहित हो कर कठिन वचन सुनना तो बहुत ही दुष्कर है। परन्तु बिना किसी भी प्रकार की आशा के, कानों के छिद्रों द्वारा कण्टक के समान वचनों को सुन कर सह लेता है बस उसी को श्रेष्ठ मनुष्य समझना चाहिए।

मुहुत्तदुक्खाउ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अओमया) लोह निर्मित (कंटया) काँटों से (उ) तो (मुहुत्तदुक्खा) मुहूर्त मात्र दुःख (हवंति) होता है (ते वि) वह भी (तओ) उस शरीर से (सुउद्धरा) सुख पूर्वक निकल सकता है। परन्तु (वेराणुबंधीणि) वैर को बढ़ाने वाले और (महब्भयाणि) महाभय को उत्पन्न करने वाले (वायादुरुत्ताणि) कहे हुए कठिन वचनों का (दुरुद्धराणि) हृदय से निकलना मुश्किल है।

भावार्थः—हे गौतम ! लोह निर्मित कण्टक-तीर से तो कुछ समय तक ही दुःख होता है और वह भी शरीर से अच्छी तरह निकाला जा सकता है। किन्तु कहे हुए तीक्ष्ण मार्मिक वचन वैर को बढ़ाते हुए नरक दि दुःखों को प्राप्त कराते हैं। और जीवन पर्यन्त उन कटु वचनों का हृदय से निकलना महान् कठिन है।

से द्वेष करने वाले और (मुहरी) मुख से अरि जैसे वचन बोलने वाले को (निक्कसिज्जइ) कुल में से बाहर निकाल देते हैं।

भावार्थ-हे गौतम! सड़े कान की कुतिया को सब जगह धुत्कार मिलता है और वह हर जगह से निकाली जाती है। इसी तरह दुराचारियों एवं धर्म से द्वेष करने वालों और मुँह से कटुवचन बोलने वालों को सब जगह से धुत्कारा मिलता है। और वह वहाँ से निकाल दिया जाता है।

कणकुण्डग चइत्ताणं, विट्ठं भुञ्जइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥ १२ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! क्या तो तत्त्वज्ञ और क्या साधारण सभी मनुष्यों के माम कटु वचनों से तथा शरीर द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में कभी भी शत्रुता करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

जणवय सम्मयट्ठवणा य नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहार भावे जोग, दसमे ओवम्म सच्चे य ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जणवय) अपने अपने देशीय (य) और (सम्मयट्ठवणा) एकमत की स्थापना की (नामे) नाम की (रूवे) रूप की (पडुच्च सच्चे) अपेक्षा से कही हुई (य) और (ववहार) व्यावहारिक (भाव) भाव की हुई (जोगे) योग कहे (य) और (दसमे) दसवाँ (ओवम) औपमिक भाव (सच्च) सत्य है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस देश में जो भाषा बोली जाती हो जिस में अनेकों का एक मत हो जैसे कर्दम से और भी वस्तु पैदा होती है पर कमल ही को पंकज कहते हैं। जिस में एकमत है। नापने के तराजू और तोलने के बाट और को जितना लम्बा और जितना वज़न में लोगों ने मिल कर स्थापन कर रक्खा हो। गुण सहित या गुण शून्य जिसका जैसा नाम हो, वैसा उच्चारण करने में जिसका जैसा वेष हो उसके अनुसार कहने में और अपेक्षा से जैसे एक की अपेक्षा से पुत्र और दूसरे की अपेक्षा से पिता उच्चारण करने में जो भाषा का प्रयोग होता है वह सत्य भाषा है। और ईंधन के जलने पर भी चूल्हा जल रहा है ऐसा व्यावहारिक उच्चारण एवं तोते में पाँचों वर्णों के होते हुए भी "हरा" ऐसा भावमय वचन

भावार्थः-हे गौतम! क्या तो सत्य और क्या साधारण सभी मनुष्यों के साथ कटु वचनों से तथा शरीर द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में कभी भी शत्रुता करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

जणवय सम्मयठवणा य नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहार भाव जोग, दसमे ओवम्म सच्चेय ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जणवय) अपने अपने देशीय (य) और (सम्मयठवणा) एकमत की स्थापना की (नामे) नाम की (रूवे) रूप की (पडुच्च सच्चे) अपेक्षा से कही हुई (य) और (ववहार) व्यावहारिक (भाव) भाव की हुई (जोग) योग की (य) और (दसमे) दशवीं (ओवम्म) औपमिक भाषा (सच्च) सत्य है।

भावार्थः-हे गौतम! जिस देश में जो भाषा बोली जाती हो जिस में अनेकों का एक मत हो जैसे कर्दम से और भी वस्तु पैदा होती है पर कमल ही को पंकज कहते हैं। जिस में एकमत है। भापन के रा ज श रोसने के बाद शरीर को जितना लम्बा और जितना वज़न में लोगों ने मिल कर स्थापन कर रक्खा हो। गुण स ित ना गुण शून्य जिसका जैसा नाम हो, वैसा उच्चारण करने में जिसका जैसा वेष हो उसके अनुसार कहने में और अपेक्षा से जैसे एक की अपेक्षा से पुत्र और दूसरे की अपेक्षा से पिता उच्चारण करने में जो भाषा का प्रयोग होता है वह सत्य भाषा है। और ईंधन के जलने पर भी चूल्हा जल रहा है ऐसा व्यावहारिक उच्चारण एवं तोते में पाँचों वर्णों के होते हुए भी "हरा" ऐसा भावमय वचन

सयम्भुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥ १९ ॥
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासीय, अयाणंता मुसं वदे ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (एगेसि) कई एक (मर्ध) अन्य (अयाणं) अज्ञानी (इय) इस प्रकार (आहिये) कहते हैं, कि (अयं) इस (जीवाजीव समाउत्ते) जीव और अजीव पदार्थ के साथ एवं (सुह दुक्खसमन्निए) सुख और दुखों से युक्त ऐसा (लोए) लोक (देवउत्ते) देवताओं ने बनाया है (आवरे) और दूसरे यों कहते हैं कि (बंभउत्तेत्ति) ब्रह्मा ने बनाया है। कोई कहते हैं कि (लोए) लोक (ईसरेण) ईश्वर ने (कडे) बनाया है। (तहावरे) तथा दूसरे यों कहते हैं कि (पहाणाइ) प्रकृति ने बनाया है। तथा नियति ने बनाया है। कोई बोलते हैं कि (लोए) लोक (सयम्भुणा) विष्णु ने (कडे) बनाया है। फिर मार " मृत्यु " बनाई। (मारेण) मृत्यु से (माया) माया (संथुया) पैदा की (तेण) इसी से (लोए) लोक (असासए) अशाश्वत है। (इति) ऐसा (महेसिणा) महर्षियों ने (वुत्तं) कहा है। और (एगे) कई एक (माहणा) माहण (समणा) संन्यासी (जगे) जगत् (अंडकडे) अण्डे से उत्पन्न हुआ ऐसा (आह) कहते हैं। इस प्रकार (असो) ब्रह्मा ने (तत्तमकासीय) तत्त्व बनाया ऐसा कहने वाले (अयाणंता) तत्त्व को नहीं जानते हुए (मुसं) झूठ (वदे) ये कहते हैं।

अमुक ने (कडे मि) बनाया है ऐसा (मूसा) बोलते हैं। (ते) वे (सत्तं) यथातथ्य तत्त्व को (णा) नहीं (विआणंति) जानते हैं। क्यों कि (कयाइ वि) कभी भी (विणासी) लोक नाशमान् (णा) नहीं है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो लोग यह कहते हैं कि इस सृष्टि को ईश्वरने देवताओं ने ब्रह्मा ने तथा स्वयंभू ने बनायी है उनका यह कहना अपनी अपनी कल्पना मात्र है वास्तव में यथातथ्य बात को वे जानते ही नहीं हैं। क्यों कि यह लोक सदा अविनाशी है। न तो इस सृष्टि के बनने की आदि ही है और न अन्त ही है। हाँ कालानुसार न्यूनाधिक हो जाता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से सृष्टि का नाश कभी नहीं होता है।

॥ इति निर्ग्रंथ प्रवचनस्यैकादशोऽध्याय ॥

अमुक ने (कडे मि) बनाया है ऐसा (मुसा) बोलते हैं। (ते) वे (तत्तं) यथातथ्य तत्व को (या) नहीं (वियाणंति) जानते हैं। क्यों कि (कयाइ वि) कभी भी (विणासी) लोक नाशमान् (या) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो लोग यह कहते हैं, कि इस सृष्टि को ईश्वरने देवताओं ने ब्रह्मा ने तथा स्वयभू ने बनायी है उनका यह कहना अपनी अपनी कल्पना मात्र है वास्तव में यथातथ्य बात को वे जानते ही नहीं हैं। क्यों कि यह लोक सदा अविनाशी है। न तो इस सृष्टि के बनने की आदि ही है और न अन्त ही है। हाँ कालानुसार न्यूनाधिक हो जाता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से सृष्टि का नाश कभी नहीं होता है।

॥ इति निर्ग्रंथ प्रवचनस्यैकादशोऽध्याय ॥

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य ।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥ २ ॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ ।
एअजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पंचासवप्पवत्तो) हिंसादि पाँच आस्रवों में प्रवृत्ति कराने वाले (तीहिं) मनसा वाचा और कर्मणा इन तीनों योगों से (अविरओ) निवृत्त नहीं है जो (तिव्वारंभपरिणओ) तीव्र है आरम्भ करने के परिणाम जिनके एवं (खुद्दो) क्षुद्र बुद्धि वाला (साहस्सिओ) अकार्य करने में साहसिक (निद्धंधसपरिणामो) नष्ट करने वाले हिंसादिक के परिणामको और (निस्संसो) निशंक रूप से पाप करने वाला (अजिइंदिओ) इन्द्रियों के वशवर्ती हो कर पापाचरण करने वाले (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के आचरणों से युक्त है जो (नरो) मनुष्य वे (किण्हलेसं) कृष्ण लेश्या क (परिणमे) परिणाम वाले होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसकी प्रवृत्ति हिंसा झूठ, चोरी व्यभिचार और ममता में अधिकतर फँसी हुई हो एवं मन

पहुँचाने में तत्पर हो। (४) तेजो लेश्या के भाव यह है जो दूसरे को लात घूँसा मुक्के आदि से कष्ट पहुँचाने में अपनी बुद्धिमत्ता समझता हो (५) पद्मलेश्या वाले की भावना इस प्रकार होती है कि कठोर शब्दों को बोलकर करने में आनन्द मानता हो। (६) शुक्ललेश्या के परिणाम वाला अपराध करने वाले के प्रति भी मधुर शब्दों का प्रयोग करता है।

द्वारा जो हर एक का बुरा चिंतवन करता हो जो कटु और मर्म भाषी हो जो प्रत्येक के साथ कपट का व्यवहार करने वाला हो जो बिना प्रयोजन के भी पृथ्वी जल तेज वायु वनस्पति और त्रस काय के जीवों की हिंसा से निवृत्त न हुआ हो बहुत जीवों की हिंसा हो ऐसे महारंभ के कार्य करने में तीव्र भावना रखता हो, हमेशा जिसकी बुद्धि तुच्छ रहती हो अकार्य करने में बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट जो साहसिकता रखता हो जिसकी तीव्र भावों से पापाचरण करने में जो रत हो इन्द्रियों को प्रसन्न रखने में अनेक दुष्कार्य जो करता हो ऐसे भावों में जिस किसी भी आत्मा की प्रवृत्ति हो वह आत्मा कृष्ण लेश्यावाली है। ऐसी लेश्या वाला फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री मर कर नीची गति में जावेगा। हे गौतम ! नील लेश्या का लक्षण यों है।

इस्सा अमरिस अतवो, अविज्ज माया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए ॥ ४ ॥
साय गवेसए य आरंभा अविरओ,
खुद्दो साह स्सिओ नरो।
एय जोगसमाउत्तो,
नीललेसं तु परिणमे ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इस्सा) ईर्षा (अमरिस) अत्यन्त क्रोध (अतवो) अतप (अविज्ज) कुशास्त्र पठन (माया) कपट (अहीरिया) पापाचार के सेवन करने में निर्लज्जता (गेही) गृद्धपन (य) और (पओसे) द्वेषभाव (सढे) धर्म में मंद स्वभाव (पमत्ते) मदोन्मत्तता (रस-

लोलुप) रसलोलुपता (सायगवेसए) पौद्गलिक सुख की अन्वेषणा (य) और (आरंभा) हिंसादि आरंभ से (अविरओ) अनिवृत्ति । (खुद्दो) क्षुद्रभावना (साहस्सिओ) अकार्य में साहसिकता (एयजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के भावयों करके युक्त (नरा) जो मनुष्य हैं, वे (नीललेसं) नील लेश्या को (परिणमे) परिणमित होते हैं।

भावार्थ —हे गौतम ! जो दूसरों के गुणों को सहन न करके रातदिन उनसे ईर्ष्या करने वाला हो बात बात में जो क्रोध करता हो । खा पी कर जो सदव मुसण्ड बना रहता हो, पर कभी भी तपस्या न करता हो जिनसे अपने जन्म मरण की वृद्धि हो ऐसे कुशास्त्रों का पठन पाठन करने वाला जो हो, कपट करने में किसी भी प्रकार की कोर कसर जो न रखता हो जो सच्ची बात कहने वाले के साथ द्वेष भाव रखता हो धर्म कार्य में शिथिलता जो दिखाता हो हिंसादि महारंभ से जो तनिक भी अपने मनको खींचता न हो दूसरों के अनेकों गुणों की तरफ दृष्टि पात तक न करते हुए उस में जो एक आध अवगुण हो उसी की ओर जो निहारने वाला हो और अकार्य करने में बड़ी बहादुरी दिखाने वाला जो हो जिस आत्मा के ऐसे व्यवहार हों उसे नीललेशी कहते हैं । इस तरह की भावना रखने वाला व उस में प्रवृत्ति करने वाला चाहे कोई पुरुष हो या स्त्री वह मर कर अधोगति ही में जावेंगे ।

वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचग ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥ ६ ॥
उप्फालग दुट्ठवाइय, तेणे आवि य मच्छरी ।
एय जोगसमाउत्तो, काऊ लेसं तु परिणमे ॥७॥

लोलुए) रसलोलुपता (सायगवेसए) पौद्गलिक सुख की अन्वेषणा (य) घोर (भारंभा) हिंसादि आरंभ से (अविरओ) अनिवृत्ति । (खुद्दो) क्षुद्रभावना (साहस्सिओ) अकार्य में साहसिकता (एयजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के भावयों करके युक्त (नरा) जो मनुष्य हैं वे (नीललेसं) नील लेश्या को (परिणमे) परिणमित होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो दूसरों के गुणों को सहन न करके रातदिन उनसे इर्ष्या करने वाला हो बात बात में जो क्रोध करता हो । खा पी कर जो सपड मुसण्ड बना रहता हो, पर कभी भी तपस्या न करता हो जिससे अपने जन्म मरण की वृद्धि हो ऐसे कुशास्त्रों का पठन पाठन करने वाला जो हो कपट करने में किसी भी प्रकार की कोर कसर जो न रखता हो जो भली बात कहने वाले के साथ द्वेष भाव रखता हो धर्म कार्य में शिथिलता जो दिखाता हो हिंसादि महारंभ से जो तनिक भी अपने मनको खींचता न हो दूसरों के अनेकों गुणों की तरफ दृष्टि पात तक न करते हुए उस में जो एक आध अवगुण हो उसी की ओर जो निहारने वाला हो और अकार्य करने में बड़ी बहादुरी दिखाने वाला जो हो जिस आत्मा के ऐसे व्यवहार हो उसे नीललेशी कहते हैं। इस तरह की भावना रखने वाला व उस में प्रवृत्ति करने वाला चाहे कोई पुरुष हो या स्त्री वह मर कर अधोगति ही में जावेगा।

वके वकसमायरे, नियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥ ६ ॥
उप्फालग दुट्ठवाइए, तेणे यावि य मच्छरी ।
ए अ जोगसमाउत्तो, काऊ लेसं तु परिणमे ॥७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (वंके) वक्र भाषण करना (वंकसमायारे) वक्र वक्र क्रिया अंगीकार करना (नियडिल्ले) मन में कपट रखना (अणुज्जुए) टेढ़ेपन से रहना (पलिउंचग) स्वकीय दोषों को ढँकना (ओवहिए) सब कामों में कपटता (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यात्व में अभिरुचि रखना (अणारिए) अनार्यता में प्रवृत्ति करना (य) और (तेणे) चोरी करना (अवि मच्छरी) फिर मात्सर्य रखना (एअ-जोगसमाउत्तो) इस प्रकार के व्यवहारों से जो युक्त हो वह (काऊलेसं) कापोत लेश्या को (परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थ—हे गौतम! जो बोलने में सीधा न बोलता हो व्यापार भी जिसका टेढ़ा हो दूसरे को न मालूम पड़े ऐसे मानसिक कपट से अपना व्यवहार जो करता हो सरलता जिसके दिल का छू कर भी ना निकली हो अपने दोषों को ढँकने की भरपूर चेष्टा जो करता हो, जिस के दिन भर के सारे कार्य छल कपट से भरे पड़े हों जिसके मन में मिथ्यात्व का अभिरुचि सदैव बनी रहती हो जो अमानुषिक कामों को भी कर बैठता हो जो वचन ऐसे बोलता हो कि जिस से प्राणि मात्र को त्रास होती हो दूसरों की वस्तु को चुराने में ही अपने मानव जन्म की सफलता समझता हो मात्सर्य तो जिसके रग रग में भरी हो इस प्रकार के व्यवहारों में जिस आत्मा की प्रवृत्ति हो वह कापोत लेश्री कहलाता है। ऐसी भावना रखने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री वह मर कर अवश्यमेव अधोगति में जायगा। हे गौतम! लेश्या के सम्बन्ध में यों हैं।

नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥ ८ ॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए।
एय जोगसमाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नीयावित्ती) जिस की वृत्ति नम्र स्वभाव वाली हो (अचवले) अचपल (अमाई) निष्कपट (अकुऊहले) कुतूहल से रहित (विणीय विणए) अपने बड़ों का विनय करने में विनीत वृत्तिवाला (दंते) इन्द्रियों को दमन करने वाला (जोगवं) शुभ योगों को वाने वाला (उवहाणवं) शास्त्रीय विधिसे तप करने वाला (पियधम्मे) जिसकी धर्म में प्रीति हो (दढधम्मे) दृढ़ है मन धर्म में जिसका (अवज्जभीरू) पाप से डरनेवाला (हिएसए) हितको ढूंढने वाला, इस प्रकार का आचरण है जिसका वह मनुष्य (तेऊलेसं) तेजो लेश्या को (तु परिणमे) परिणामेत होता है।

भावार्थः—हे आर्य ! जिसकी प्रकृति बड़ी मृदु है जो स्थिर बुद्धिवाला है जो निष्कपट है हंसी मज़ाक करने का जिसका स्वभाव ही नहीं है अपने बड़ों का विनय कर जिसने विनीत की उपाधि प्राप्त करली है जो जितेन्द्रिय है, मानसिक, वाचिक, और कायिक इन तीनों योगों के द्वारा जो कभी किसी का अहित न चाहता हो, शास्त्रीय विधि विधान युत तपस्या करने में दत्त चित्त जो रहता हो, धर्म में सदैव प्रेम भाव रखता है, चाहे उस पर प्राणान्त कष्ट ही क्यों न आजावे पर धर्म में जो दृढ़ रहता है किसी जीव को कष्ट न पहुँचे, ऐसी भाषा जो बोलता हो और हितकारी मोक्ष धाम को जाने के

जिन शुद्ध क्रिया करने की गवेषणा जो करता रहता हो, वह [illegible] कहलाता है। जो जीव इस प्रकार की भावना रखता है वह मर कर ऊर्ध्वगति अर्थात् परलोक में उत्तम स्थान को प्राप्त होता है। हे गौतम! पद्मलेश्या का वर्णन यों है—

पयणुक्कोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥ १० ॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (पयणुक्कोहमाणे) पतले हैं क्रोध और मान जिसके (य) और (मायालोभे) माया तथा लोभ भी जिसके (पयणुए) अल्प हैं (पसन्तचित्ते) प्रशान्त है चित्त जिसका (दन्तप्पा) जो आत्मा को दमन करता है (जोगवं) जो मन वचन काया के शुभ योगों को प्रवृत्त करता है (उवहाणवं) जो शास्त्रीय तप करता है (तहा) तथा (पयणुवाई) जो अल्प भाषी है और वह भी सोच विचार कर बोलता है (य) और (उवसंते) शान्त है आकार प्रकार जिसका (य) और (जिइंदिए) जो इन्द्रियों को जीतता हो (एय जोगसमाउत्तो) इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला जो मनुष्य हो वह (पम्हलेसं) पद्म लेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थः—हे गौतम! जिसके क्रोध मान माया लोभ कम हैं जो सदैव शान्त चित्त से रहता है आत्मा का जो दमन करता है मन वचन काया के शुभ योगों में जो अपनी प्रवृत्ति करता है शास्त्रीय विधि का उपधान तप करता है सोच विचार कर जो मधुर भाषण करता है, जो शरीर के

अङ्गोपाङ्गों को गोप रखता है। इन्द्रियों को हरसमय जो काबू में रखता है वह पद्मलेशी कहलाता है। इस प्रकार की भावना का एवं प्रवृत्ति का जो मनुष्य अनुशीलन करता है, वह मनुष्य मर कर ऊर्ध्वगति में जाता है। हे गौतम! शुक्ल लेश्या का कथन यों है।

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥ १२ ॥
सरागो वीयरागो वा उवसंते जिइंदिए।
एय जोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (अट्टरुद्दाणि) आर्त और रौद्र ध्यानों को (वज्जित्ता) छोड़ कर (धम्मसुक्काणि) धर्म और शुक्ल ध्यानों को (झायए) जो चिंतवन करता हो (पसंतचित्ते) प्रशान्त है चित्त जिसका (दंतप्पा) दमन की है अपनी आत्मा को जिसने (समिए) जो पाँच समिति करके युक्त हो (य) और (गुत्तिसु) तीन गुप्ति से (गुत्ते) गोपी है अपनी आत्मा को जिसने (सरागो) जो सराग (वा) अथवा (वीयरागो) वीतराग संयम रखता हो (उवसंते) शांत है अंगोपाङ्ग जिसके और (जिइंदिए) जो जीतेन्द्रिय है (एय जोगसमाउत्तो) ऐसे आचरणों से जो युक्त है वह मनुष्य (सुक्कलेसं) शुक्ललेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थः—हे आर्य! जो आर्त और रौद्र ध्यानों का परित्याग करके सदैव धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करता है क्रोध मान माया और लोभ आदि के शान्त होने से प्रशान्त हो रहा है चित्त जिसका सम्यक् ज्ञान दर्शन

एवं चारित्र में जिसने अपनी आत्मा को दमन कर रक्खी है गमन करने खाने पीने आदि सभी व्यवहारों में संयम रखता है मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति से जिसने अपनी आत्मा को रोकी है सराग अथवा वीतराग संयम को रखता है जिसके मुख का आकार प्रकार शान्त है इन्द्रिय जन्य विषयों को विष समझकर उन्हें छोड़ जिसने रक्खे हैं वही मनुष्य शुक्ल लेशी है। यदि इस अवस्था में मनुष्य मरता है तो वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है।

किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (किण्हा) कृष्ण (नीला) नील (काऊ) कापोत (एयाओ) ये (तिण्णि) तीनों (वि) ही (अहम्मलेसाओ) अधर्म लेश्याएँ हैं। (एयाहि) इन (तिहि) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (उववज्जई) प्राप्त करता है।

भावार्थ—हे गौतम! कृष्ण नील और कापोत इन तीनों का नाम ज्ञानी जनों ने अधर्म लेश्याएँ (अधर्मभावनाएँ) कहा है। इस प्रकार की अधर्म भावनाओं से जीव दुर्गति में जाकर महान् कष्टों को भोगता है। अतः ऐसी बुरी भावनाओं को कभी भी हृदयंगम न होने देना यही श्रेय मार्ग है।

तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (तेऊ) तेजो (पम्हा) पद्म

और (सुक्का) शुक्ल (एयाओ) ये (तिन्निया) तीनों (वि) ही (धम्म लेसाओ) धर्म लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (सुग्गइं) सुगति को (उववज्जइ) प्राप्त करता है।

भावार्थः-हे आर्य! तेजो पद्म, और शुक्ल, ये तीनों, ज्ञानी जन द्वारा धर्म लेश्याएँ (धर्म भावनाएँ) कही गयी हैं। इस प्रकार धर्म भावना रखने से यह जीव यहाँ भी प्रशंसा का पात्र होता है, और मरने के पश्चात् भी वह सुगति ही में जाता है जहाँ कि उसके लिए योग्य स्थान होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए, कि वे अपनी भावनाओं को सदा शुद्ध रक्खें। जिससे इस आत्मा को मोक्ष धाम मिलने में विलम्ब न हो।

अन्तमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (परिणयाहिं) परिणमित हो गयी है (लेसाहिं) लेश्या जिसके ऐसा (जीवा) जीव (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त्त (गए) होने पर (चेव) और (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त्त (सेसए) अवशेष रहने पर (परलोयं) परलोक को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे आर्य! मनुष्य और तिर्यंचों के अन्तिम समय में योग्य या अयोग्य जिस किसी भी स्थान पर उन्हें जाना होता है उसी स्थान के अनुसार उसकी भावना मरने के अन्तर्मुहूर्त्त पहले आती है। और वह भावना उसने अपने जीवन में भले और बुरे कार्य किये होंगे उसी के अनुसार

अन्तिम समय में जैसी ही लेश्या (भावना) उसकी होगी चार देवलोक तथा नरक में रहे हुए देव और नेरिया मरने के अन्तर्मुहूर्त पहले अपने स्थानानुसार लेश्या (भावना) ही में मरता।

तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभाव वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणि॥१४॥

अन्वयार्थ – (मुणि) हे ज्ञानीजन! (तम्हा) इसलिए (एयासि) इन (लेसाणं) लेश्याओं के (अणुभावं) प्रभाव को (वियाणिया) जान कर (अप्पसत्थाओ) बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को (वज्जित्ता) छोड़ कर (पसत्था) अच्छी प्रशस्त लेश्याओं को (अहिट्ठिए) अंगीकार करो।

भावार्थ – हे [illegible] के फल जानने वाले ज्ञानी जनो! इस प्रकार छहों लेश्याओं का स्वरूप समझकर इन में से बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को तो कभी भी अपने हृदय तक में फटकने मत दो और अच्छी भावनाओं को सदैव हृदयंगम करके रक्खो। इसी में मानव जीवन की सफलता है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य द्वादशोऽध्यायः॥

अध्याय तेरहवां

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कोहो य माणो य अणिग्गहीआ,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (अणिग्गहीआ) अनिग्रहित (कोहो) क्रोध (य) और (माणो) मान (पवड्ढमाणा) बढ़ता हुआ (माया) कपट (य) और (लोभो) लोभ (एए) ये (कसिणा) सम्पूर्ण (चत्तारि) चारों ही (कसाया) कषाय (पुणब्भवस्स) पुनर्जन्म रूप वृक्ष के (मूलाइं) मूलों को (सिंचंति) सींचते हैं।

भावार्थ—हे आर्य! निग्रह नहीं किया है ऐसा क्रोध और मान तथा बढ़ता हुआ कपट और लोभ ये चारों ही सम्पूर्ण कषाय पुनः पुनः जन्म मरण रूप वृक्ष के मूलों को हरा भरा रखते हैं। अर्थात् क्रोध मान माया और लोभ ये चारों ही कषाय दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं।

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विउसियं जे य उदीरएज्जा।

अधे य से दडपह गहाय
अविउसिए धासति पावकम्मी ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (कोहणे) क्रोधी (होइ) होता है वह (जगट्ठभासी) जगत् के अर्थ को कहने वाला है (उ) और (जे) वह (विउसियं) उपशान्त क्रोध को (उदीरएज्जा) पुनः जागृत करता है। (व) जैसे (अधे) अन्धा (दंडपहं) लकड़ी (गहाय) ग्रहण कर मार्ग में पशुओं से कष्ट पाता हुआ जाता है ऐसे ही (से) वह (अविउसिए) अनुपशान्त (पावकम्मी) पाप करने वाला (धासति) चतुर्गति रूप मार्ग में कष्ट उठाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने बात बात में क्रोध करने का स्वभाव कर रक्खा है वह जगत् के जीवों में अपने कर्मों से लूलापन अंधापन बधिरता आदि न्यूनताओं को अपनी जिह्वा के द्वारा सामने रख देता है। और जो कलह उपशान्त हो रहा है उस को पुनः चेतन कर देता है। जैसे अन्धा मनुष्य लकड़ी को लेकर चलते समय मार्ग में पशुओं आदि से कष्ट पाता है ऐसे ही वह महाक्रोधी चतुर्गति रूप मार्ग में अनेक प्रकार के जन्म मरणों का दुख उठाता रहता है।

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखा य वाय अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाह सहिउ त्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंब भूयं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे आवि) जो अल्प मति है वह (अप्पं) अपनी आत्मा को (वसुमंति) केवल

वान् है ऐसा (मत्ता) मान कर (य) और (सत्ता) अपने को ज्ञानवान् समझता हुआ (अप्परिक्ख) परमार्थ को (तवेण) तपस्या करके (सहिउत्ति) सहित (अह) मैं हूँ ऐसा (मत्ता) मान कर (अण्णं) दूसरे (जणं) मनुष्य को (बिंबभूयं) केवल आकार मात्र (पस्सति) देखता है।

भावार्थ—हे आर्य ! जो अल्प मतिवाला मनुष्य है, वह अपने ही को संयमवान् समझता है और कहता है कि मेरे समान संयम रखने वाला कोई दूसरा है ही नहीं। जिस प्रकार मैं ज्ञानवाला हूँ वैसा दूसरा कोई है ही नहीं इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का सिंहनाद वह करता फिरता है। तथा तपवान् भी मैं ही हूँ ऐसा मान कर वह दूसरे मनुष्य को गुणशून्य और केवल मनुष्याकार मात्र ही देखता है। इस प्रकार मान करने से वह मानी पायी हुई वस्तु से हीनावस्था में आ गिरता है।

पूयणट्ठा जसो कामी, माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पूयणट्ठा) ज्यों की त्यों अपनी शोभा रखने के अर्थ (जसो कामी) यश का कामी और (माणसम्माण) मान सम्मान का (कामए) चाहने वाला (बहुं) बहुत (पावं) पाप (पसवई) पैदा करता है (च) और (माया सल्लं) कपट शल्य को (कुव्वइ) करता है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो मनुष्य पूजा यश मान और सम्मान का भूखा है वह इन की प्राप्ति के लिए अनेक तरह

क प्रयत्न करके अपने लिए पाप पैदा करता है और साथ ही में कपट करने में भी पीछे कुछ कम नहीं उतरता है।

कसिणं पि जो इमं लोगं
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (जो) कोई (इक्कस्स) एक मनुष्य को (पडिपुण्ण) धन धान्य से परिपूर्ण (इमं) यह (कसिणं पि) सारा ही (लोगं) लोक (दलेज्ज) दे दे तदपि (तेणावि) उस से भी (से) वह (न) नहीं (संतुस्से) सन्तोषित होता है। (इइ) इस प्रकार से (इमे) यह (आया) आत्मा (दुप्पूरए) इच्छा से पूर्ण नहीं हो सकती है।

भावार्थ हे गौतम! वैभमण देव किसी मनुष्य को हीरे पन्ने माणिक मोती तथा धन धान्य से भरी हुई सारी पृथ्वी दे देवे तो भी उस से उस को सन्तोष नहीं होता है। अतः इस आत्मा की इच्छा को पूर्ण करना महान् कठिन है।

सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति! (केलाससमा) कैलाश पर्वत के समान (सुवण्णरूप्पस्स) सोने चाँदी के (असं

कया) कदाचित (पव्वया) पर्वत (हु) निश्चय (भवे) हो और वे (सिया) कदाचित् मिल गए तदपि (तेहिं) उस से (लुद्धस्स) लोभी (नरस्स) मनुष्य की (किंचि) किंचित् मात्र भी तृप्ति (न) नहीं होती है, (हु) क्योंकि (इच्छा) तृष्णा (आगाससमा) आकाश के समान (अणंतिया) अनंत है।

भावार्थः हे गौतम ! कैलाश पर्वत के समान लम्बे चौड़े असंख्य पर्वतों के जितने सोने चाँदी के ढेर किसी लोभी मनुष्य को देदेवें तो भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं होती है। क्यों कि जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं है उसी प्रकार इस तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता है।

पुढवी साली जवा चेव हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति ! (साली) शालि (जवा) सहित (चेव) और (पसुभिस्सह) पशुओं के साथ (हिरण्णं) सोने चांदी (पडिपुण्णं) सम्पूर्ण भरी हुई (पुढवी) पृथ्वी (एगस्स) एक की तृष्णा को बुझाने के लिए (नालं) समर्थवान् नहीं है। (इइ) इस तरह (विज्जा) जान कर (तवं) तप रूप मार्ग में (चरे) विचरण करना चाहिए।

भावार्थः हे गौतम ! शालि जव सोना चांदी और पशुओं से परिपूर्ण पृथ्वी भी किसी एक मनुष्य की इच्छा को तृप्त करने में समर्थ नहीं है। ऐसा जान कर तप रूप मार्ग में घूमते हुए आशाओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इसी से आत्मा को तृप्ति होती है।

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! आत्मा (कोहेणं) क्रोध से (अहे) अधोगति में (वयइ) जाती है (माणेणं) मान से उस को (अहमा) अधम (गई) गति मिलती है (माया) कपट से (गइपडिग्घाओ) अच्छी गति का प्रतिघात होता है । (लोहाओ) लोभ से (दुहओ) दोनों भव संबंधी (भयं) भय प्राप्त होता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! जब आत्मा क्रोध करती है तो उस क्रोध से उसे नरक आदि स्थानों की प्राप्ति होती है । मान करने से वह अधम गति को प्राप्त करती है । माया करने से पुरुषत्व या देवगति आदि अच्छी गति मिलने का प्रतिघात होता है । और लोभ से तो जीव इस भव एवं पर भव संबंधी भय को प्राप्त होता है ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (कोहो) क्रोध (पीइं) प्रीति को (पणासेइ) नाश करता है (माणो) मान (विणय) विनय का (नासणो) नाश करने वाला है । (माया) कपट (मित्ताणि) मित्रता को (नासेइ) नष्ट करता है । और (लोभो) लोभ (सव्व) सारे सद्गुणों का (विणासणो) विनाशक है ।

भावार्थः—हे गौतम ! क्रोध ऐसा बुरा है कि वह परस्पर

की प्रीति को क्षण भर में नष्ट कर देता है मान जो है यह विनम्र भाव को कभी अपनी ओर झाँकने तक भी नहीं देता। कपट से मित्रता का भग हो जाता है और लोभ सभी गुणों का नाश कर बैठता है। अतः क्रोध मान, माया और लोभ इन चारों ही दुर्गुणों से अपनी आत्मा को सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिए।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं मज्जव भावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उवसमेण) उपशान्त "क्षमा" से (कोहं) क्रोध का (हणे) नाश करो (मद्दवया) नम्रता से (माणं) मान को (जिणे) जीतो (मज्जव) सरल (भावेण) भावना से (मायं) कपट को और (संतोसओ) सतोष से (लोभं) लोभ को (जिणे) पराजित करो।

भावार्थः—हे आर्य ! इस क्रोध रूप चाण्डाल का क्षमा से दूर भगाओ और विनम्र भावों से इस मान का मद नाश करो। इसी प्रकार सरलता से कपट को और सतोष से लोभ को पराजय करो। तभी वह मोक्ष जहाँ पर कि गये बाद वापिस दुःखों में आने का काम नहीं ऐसे स्थान पर आ पहुँचोगे।

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥ ११ ॥

(जिससे) विश्वास करे अनुकरण करे क्योंकि (मुहुत्ता) समय आयुक्षय करने ही से (घोरा) भयकर है। और (सरीरं) शरीर भी (अबलं) बल रहित है। अत (भारंड पक्खीव) भारंड पक्षी की तरह (अप्पमत्तो) प्रमाद रहित (चर) सयम में विचरण कर।

भावार्थः—हे गौतम ! द्रव्य निद्रा से जागृत तीक्ष्ण बुद्धिवाले पण्डित पुरुष जो होते हैं वे द्रव्य और भाव से नींद लेनेवाले प्रमादी पुरुषों के आचरणों का अनुकरण नहीं करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि समय जो है वह मनुष्य का आयु कम करने में भयङ्कर है। और यह भी नहीं है कि यह शरीर मृत्यु का सामना कर सके। अतएव जिस प्रकार भारंड पक्षी अपना चुगा चुगने में प्राय प्रमाद नहीं करता है। उसी तरह तुम भी प्रमाद रहित होकर सयमी जीवन बिताने में सफलता प्राप्त करो।

जे गिद्धे कामभोएसु एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमारई ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (एग) कोई एक (कामभोएसु) काम भोगों में (गिद्धे) आसक्त होता है, वह (कूडाय) हिंसा और मृषा भाषा को (गच्छइ) प्राप्त होता है फिर उससे पूछने पर वह बोलता है कि (मे) मैंने (परलोए) परलोक (न) नहीं (दिट्ठ) देखा है। (इमा) इस (रइ) पौद्गलिक सुख को (चक्खुदिट्ठा) प्रत्यक्ष आखों से देख रहा हूँ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो काम भोग में सदैव लीन रहता

अणणसद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ।
काम भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जणेणसद्धिं) इतने मनुष्यों के साथ मेरा भी (होक्खामि) जो होना होगा सो होगा (इइ) इस प्रकार (बाले) वे अज्ञानी (पगब्भइ) बकते हैं पर वे आखिर (कामभोगाणुराएणं) काम भोगों के अनुरागी (केसं) दुख ही को (संपडिवज्जइ) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ हे गौतम ! वे अज्ञानी जन इस प्रकार फिर बकते हैं कि इतने दुष्कर्मी लोगों का पर लोक में जो होगा वह मेरा भी हो जायगा। इतने सब के सब लोग क्या मूर्ख हैं ? पर हे गौतम ! आखिर में वे काम भोगों के अनुरागी लोग इस लोक और परलोक में महान् दुखों को भोगते हैं।

तओ से दंड समारभइ, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसइ ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! यों स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना मान करके (तओ) उसके बाद (से) वह मनुष्य (तसेसु) त्रस (य) और (थावरेसु) स्थावर जीवों के विषय (अट्ठाए) प्रयोजन से (य) अथवा (अणट्ठाए) बिना प्रयोजन से (दंडं) मन वचन काया के दण्ड को (समारभइ) समारंभ करता है। और (भूयग्गामं) प्राणियों के समूह का (विहिंसइ) वध करता है।

भावार्थः--हे आर्य ! नास्तिक लोग प्रत्यक्ष जीवों को

छोड़ कर भविष्यत् की कौन आशा करे इस प्रकार कह कर, अपने दिल को कठोर बना लेते हैं। फिर वे, इससे चलते त्रस जीवों और स्थावर जीवों की प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन से, हिंसा करने के लिए, मन, वचन काया के योगों को आरम्भ कर असंख्य जीवों की हिंसा करते हैं।

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मसं, सेयमेअं ति मन्नइ ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! स्वर्ग नर्क को न मान कर वह (हिंसे) हिंसा करने वाला (बाले) अज्ञानी (मुसावाई) फिर झूँठ बोलता है (माइल्ले) कपट करता है, (पिसुणे) निन्दा करता है (सढे) दूसरों को ठगने की करतूत करता रहता है (सुर) मदिरा (मसं) माँस (भुंजमाणे) भोगता हुआ (सेयमेअं) श्रेय है (ति) ऐसा (मन्नइ) मानता है।

भावार्थः-हे गौतम! स्वर्ग नर्क आदि की असम्भावना करके वह अज्ञानी जीव हिंसा करने के साथ ही साथ झूँठ बोलता है प्रत्येक बात में कपट करता है। दूसरों की निंदा करने में अपना जीवन सर्वस्व कर बैठता है। दूसरों को ठगने में अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देता है। और मदिरा एवं मांस खाता हुआ भी अपना जीवन श्रेष्ठ मानता है

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! ये नास्तिक लोग (कायसा) काया करके (वायसा) वचन करके (मत्ते) गर्वान्वित होने

वाले (वित्ते) धन में (य) और (इत्थिसु) स्त्रियों में (गिद्धे) आसक्त हो रहे हैं ऐसे वे मनुष्य (दुहओ) राग द्वेष करके (मलं) कर्म मल को (संचिणइ) इकट्ठा करते हैं (व्व) जैसे (सिसुणागु) शिशुनाग " अलसिया " (मट्टिअं) मिट्टी से चिपटा रहता है।

भावार्थः—हे आर्य ! मन वचन और काया से मद करने वाले व नास्तिक लोग धन और स्त्रियों में आसक्त हो कर रागद्वेष से गाढ़ कर्मों का आत्मा पर लेप कर रहे हैं। पर उन कर्मों के उदय काल में जैसे अलसिया मिट्टी से उत्पन्न हो कर फिर मिट्टी ही से चिपटाता है किन्तु सूर्य की आतापना से मिट्टी के सूखने पर वह अलसिया महान् कष्ट उठाता है इसी तरह से नास्तिक लोग भी जन्म जन्मान्तरों में महान् कष्टों को उठावेंगे।

तओ पुट्ठो आयंकेणं गिलाणो परितप्पइ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! कर्म बँध लेने के (तओ) पश्चात् (आयंकेणं) असाध्य रोगों से (पुट्ठो) घिरा हुआ वह नास्तिक (गिलाणो) ग्लानि पाता है और (परलो-गस्स) परलोक के भय से (पभीओ) डरा हुआ (अप्पणो) अपने किये हुए (कम्माणुप्पेहि) कर्मों को देख कर (परि-तप्पइ) खेद पाता है।

भावार्थः—हे गौतम ! पहले तो वे विषयों के लोलुप हो कर कर्म बाँध लेते हैं। फिर उन कर्मों का उदय काल निकट आता है। तो वे असाध्य रोगों से घिर जाते हैं। उस

समय बड़ी ग्लानि उन्हें होती है। नर्कोदि के दुःखों से वे बड़े घबराते हैं। और अपने किये हुए बुरे कर्मों के फलों को देख कर वे अत्यन्त खेद पाते हैं।

सुआ मे नरए ठाणा, असीलाण य जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! वे बोलते हैं कि (मे) मैंने (नरए) नर्क में (ठाणा) कुंभी, वैतरणी, आदि जो स्थान हैं उन के नाम (सुआ) सुने हैं (य) और (असीलाणं) दुराचारियों की (जा) जो (गई) नारकीय गति होती है उसे भी (जत्थ) जहाँ पर उन (कूरकम्माणं) क्रूर कर्मों के करने वाले (बालाणं) अज्ञानियों को (पगाढा) प्रगाढ़ (वेयणा) वेदना होती है।

भावार्थः–हे आर्य! नास्तिक जन नर्क और स्वर्ग किसी का भी न मान कर खूब पाप करते हैं। जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है। तो उनको कुछ असारता मालूम होने लगती है। तब वे बोलते हैं कि सच है हमने तत्त्वज्ञों द्वारा सुना है कि नरक में पापियों के लिए कुम्भियाँ वैतरणी नदी आदि स्थान हैं। और उन दुष्कर्मियों की जो नारकीय गति होती है, वहाँ क्रूरकर्मी अज्ञानियों का प्रगाढ़ वेदना होती है।

सव्वं विलवियं गीअं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति! (सव्वं) सारे (गीअं)

गीत (विलवियं) विलाप के समान हैं। (सव्वं) सारे (नट्टं) नृत्य (विडंबियं) विडम्बना रूप हैं। (सव्वे) सारे (आभरणा) आभरण (भारा) भार के समान हैं। और (सव्वे) सम्पूर्ण (कामा) कामभोग (दुहावहा) दुख प्राप्त कराने वाले हैं।

भावार्थः–हे गौतम ! सारे गीत विलाप के समान हैं। सारे नृत्य विडम्बना के समान हैं। सारे रत्न जड़ित आभरण भार रूप हैं। और सम्पूर्ण काम भोग जन्म जन्मांतरों में दुख देने वाले हैं।

> जहेह सीहो व मियं गहाय,
> मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
> न तस्स माया व पिआ व भाया,
> कालम्मि तम्मि सहरा भवंति ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (जहा) जैसे (सीहो) सिंह (मियं) मृग को (गहाय) पकड़ कर उसका अन्त कर डालता है (व) वैसे ही (मच्चू) मृत्यु (हु) निश्चय करके (अन्तकाले) आयुष्य पूर्ण होने पर (नरं) मनुष्य को (नेइ) परलोक में ले जा कर पटक देती है। (तम्मि) उस (कालम्मि) काल में (तस्स) उस के (माया) माता (वा) अथवा (पिआ) पिता (व) अथवा (भाया) भ्राता (सहरा) उस दुख को अंश मात्र भी बँटाने वाले (न) नहीं (भवंति) होते हैं।

भावार्थः–हे आर्य ! जिस प्रकार सिंह भागते हुए मृग को पकड़ कर उसे मार डालता है। इसी तरह मृत्यु भी मनु

ष्य को परलोक में ले जा कर पटक देती है। उस समय उस के माता पिता भाई आदि कोई भी उस के दुःख का बँटवारा कराके भागीदार नहीं बनते हैं। और न अपनी निजी आयु में से भी आयु का कोई भाग ही दे कर मृत्यु से उसे बचा सकते हैं।

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,

इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।

तं एवमेवं लालप्पमाणं,

हरा हरंति त्ति कहं पमाओ ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति! (इमं) यह धान्यादि (मे) मेरा (अत्थि) है (च) और (इमं) यह घर (मे) मेरे (किच्चं) करने योग्य है (च) और (इमं) यह व्यापार (अकिच्चं) नहीं करने योग्य है (एवमेवं) इस प्रकार (लालप्पमाणं) बोलनेवाले प्रमादियों के (तं) आयु को (हरा) रात दिन रूप चोर (हरंति) हरण कर रहे हैं (त्ति) इस लिए (कहं) कैसे (पमाओ) प्रमाद कर रहे हो?

भावार्थ--हे गौतम! धान्य तो मेरा है पर धन मेरा नहीं है। यह घर करने का है और यह बिना लाभ का व्यापार मेरे नहीं करने का है। आदि इस प्रकार बोलने वालों का आयु तो रात दिन रूप चोर हरण करते जा रहे हैं। फिर प्रमाद क्यों करते हो?

॥ इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य त्रयोदशोऽध्यायः॥

गीत (विलविय) विलाप के समान हैं। (सव्वं) सारे (नट्ट) नृत्य (विडंबियं) विडम्बना रूप हैं। (सव्वे) सारे (आभरणा) आभरण (भारा) भार के समान हैं। और (सव्वे) सम्पूर्ण (कामा) कामभोग (दुहावहा) दुःख प्राप्त कराने वाले हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! सारे गीत विलाप के समान हैं। सारे नृत्य विडम्बना के समान हैं। सारे रत्न जटित आभरण भार रूप हैं। और सम्पूर्ण काम भोग जन्म जन्मांतरों में दुःख देने वाले हैं।

> जहेह सीहो व मियं गहाय,
> मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
> न तस्स माया व पिया व भाया,
> कालम्मि तम्मि सहरा भवंति ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (जहा) जैसे (सीहो) सिंह (मियं) मृग को (गहाय) पकड़ कर उसका अन्त कर डालता है (व) वैसे ही (मच्चू) मृत्यु (हु) निश्चय करके (अन्तकाले) आयुष्य पूर्ण होने पर (नरं) मनुष्य को (नेइ) परलोक में ले जा कर पटक देती है। (तम्मि) उस (कालम्मि) काल में (तस्स) उस के (माया) माता (वा) अथवा (पिया) पिता (व) अथवा (भाया) भ्राता (सहरा) उस दुःख को जरा मात्र भी बँटाने वाले (न) नहीं (भवंति) होते हैं।

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार सिंह भागते हुए मृग को पकड़ कर उसे मार डालता है। इसी तरह मृत्यु भी मनु

अन्वयार्थः–हे पुत्रो ! (पासह) देखो (डहरा) बालक तथा (वुड्ढा) वृद्ध (चियति) शरीर त्याग देते हैं। और (गब्भत्था) गर्भस्थ (माणवा वि) मनुष्य भी शरीर त्याग देते हैं (जह) जैसे (सेणे) बाज पक्षी (वट्टय) बटेर को (हरे) हरण कर ले जाता है (एव) इसी तरह (आउक्खयम्मि) उम्र के बीत जाने पर (तुट्टइ) मानव-जीवन टूट जाता है।

भावार्थ–हे पुत्रो ! देखो कितनेक तो बालपन में ही तथा कितनेक वृद्धावस्था में अपने मानव शरीर को छोड़ कर यहाँ से चल बसते हैं। और कितनेक गर्भावास में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे बाज पक्षी अचानक बटेर को आ दबोचता है वैसे ही न मालूम किस समय आयु के क्षय हो जाने पर मृत्यु प्राणों को हरण कर लेगी। अर्थात् आयु के क्षय होने पर मानव-जीवन की शृंखला टूट जाती है।

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
णो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
पयाइ भयाइ पेहिया,
आरम्भा विरमेज्ज सुव्वए ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः–हे पुत्रो ! माता पिता के मोह में फँस कर जो धर्म नहीं करता है वह (मायाहिं) माता (पियाहिं) पिता के द्वारा ही (लुप्पइ) परिभ्रमण करता है (य) और उसे (पेच्चओ) परलोक में (सुगई) सुगति मिलना (सुलहा) सुलभ (ण) नहीं है। (एयाइं) इन (भयाइं) भयों को (पेहिया) देख कर (आरम्भा) हिंसादि आरंभ से (विरमेज्ज) निवृत्त हो, वही (सुव्वए) सुव्रतवाला है।

अध्याय चौदहवां

भगवान् श्रीऋषभोवाच

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो! (संबुज्झह) धर्म बोध करो (किं) सुविधा पाते हुए क्यों (न) नहीं (बुज्झह) बोध करते हो? क्योंकि (पेच्च) परलोक में (खलु) निश्चय ही (संबोही) धर्म-प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (राइओ) गयी हुई रात्रि (णो) नहीं (हु) निश्चय (उवणमंति) पीछी आती है। (पुणरवि) और फिर भी (जीवियं) मनुष्य जन्म मिलना (सुलभं) सुगम (न) नहीं है।

भावार्थः-हे पुत्रो! सम्यक्त्वरूप धर्म बोध-को प्राप्त करो। सब तरह से सुविधा होते हुए भी धर्म को प्राप्त क्यों नहीं करते? अगर मानव जन्म में धर्म-बोध प्राप्त न किया तो फिर धर्म-बोध प्राप्त होना महान् कठिन है। गया हुआ समय तुम्हारे लिए वापस लौट कर आने का नहीं और न मानव जीवन ही सुलभता से मिल सकता है।

डहरा वुड्ढा य पासह, गम्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवमाउक्खयम्मि तुट्टई ॥ २ ॥

विरया धीरा समुट्ठिया,
कोहकायरियाइ पीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो,
पावाउ विरिया अभिनिव्वुडा ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (विरया) पौद्गलिक सुखों से जो विरक्त है और (समुट्ठिया) सदाचार के सेवन करने में सावधान जो है (कोहकायरियाइ) क्रोध माया और उपलक्षण मान एवं लोभ को (पीसणा) नाश करने वाला जो है, (सव्वसो) मन वचन काया से जो (पाणे) प्राणों को (ण) नहीं (हणंति) हनता है (पावाउ) हिंसाकारी अनुष्ठानों से जो (विरिया) विरक्त है और (अभिनिव्वुडा) क्रोधादि से उपशान्त है चित्त जिसका उस को (धीरा) वीर पुरुष कहते हैं ।

भावार्थः-हे पुत्रो ! मार काट या युद्ध करके कोई वीर कहलाना चाहे तो वास्तव में वह वीर नहीं बन सकता है । वीर तो वह है जो पौद्गलिक सुखों से अपना मन मोड़ लेता है सदाचार का पालन करने में सदैव सावधानी रखता है क्रोध मान माया और लोभ इन्हें अपना आन्तरिक शत्रु समझ कर इनके साथ युद्ध करता रहता है और उस युद्ध में उन्हें भेद कर विजय प्राप्त करता है। मन, वचन और काया से किसी तरह दूसरों के हक में बुरा न हो ऐसा हमेशा ध्यान रखता रहता है और हिंसादि आरंभ से दूर रह कर जो उपशान्त चित्त से रहता है ।

जे परभवइ पर जणं,
संसारे परिवत्तइ मह ।

अन्वयार्थः—हे पुत्रो! माता पितादि कौटुम्बिक जनों के मोह में फँस कर जिसने धर्म नहीं किया वह उन्हीं के कारणों से संसार के चक्र में अनेक प्रकार के कष्टों को उठाता हुआ भ्रमण करता रहता है और जन्म जन्मान्तरों में भी उसे सुगति का मिलना सुलभ नहीं है। अतः इस प्रकार संसार में भ्रमण करने से होने वाले अनेकों कष्टों को देख कर जो हिंसा झूँठ चोरी व्यभिचार आदि कामों से विरक्त रहे वही मानव जीवन को सफल करने वाला सुव्रती पुरुष है।

जमिया जगति पुढो जगा,
कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ,
णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठय ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ हे पुत्रो! (अमिया) जो हिंसा से निवृत्त नहीं होते हैं उनको यह होता है कि (जगति) संसार में (पाणिणो) वे प्राणी (पुढो) पृथक् पृथक् (जगा) पृथ्वी आदि स्थानों में (कम्मेहिं) कर्मों से (लुप्पंति) भ्रमण करते हैं। क्योंकि (सयमेव) अपने (कडेहिं) किये हुए कर्मों के द्वारा (गाहइ) नरकादि स्थानों को वे प्राप्त करते हैं। (तस्स) उन्हें (पुट्ठये) कर्म स्पर्श अर्थात् भोगे बिना (णो) नहीं (मुच्चेज्ज) छोड़ते हैं।

भावार्थः हे पुत्रो! जो हिंसादि से मुँह नहीं मोड़ते हैं वे इस संसार में पृथ्वी पानी नरक और तिर्यञ्च आदि अनेकों स्थानों और योनियों में कर्मों के साथ घूमते रहते हैं। क्योंकि उन्होंने स्वयमेव ही ऐसे काम किये हैं कि जिन कर्मों के भोगे बिना उनका छुटकारा कभी हो ही नहीं सकता है।

स्त्रिया) येटे (याहिरं) कहे हुए (समाहिं) समाधि मार्ग को (न) नहीं (विजाणंति) जानते हैं।

भावार्थः-हे पुत्रो ! इस ससार में अनेक प्रकार के वैभवों से युक्त जो मनुष्य हैं वे काम भोगों में आसक्त हो कर कायर की तरह बोलते हुए धर्माचरण में हठीलापन दिखाते हैं उन्हें एसा समझो कि वे वीतराग के कहे हुए समाधि मार्ग को नहीं जानते हैं।

अदक्खुव दक्खुवाहियं,
सद्दहसु अदक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्ध दंसणे,
मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (अदक्खुव) तुम अन्धे क्यों बने जा रहे हो ! (दक्खुवाहियं) जिसने देखा है उसके वाक्यों में (सद्दहसु) श्रद्धा रक्खो और (अदक्खुदंसणा) हे ज्ञान शून्य मनुष्यो ! (हंदि) ग्रहण करो वीतराग के कहे हुए आगमों को। परलोकादि नहीं है ऐसा कहने वालों के (मोहणिज्जेण) मोहवश (कडेण) अपने किये हुए (कम्मुणा) कर्मों द्वारा (दंसणे) सम्यक्ज्ञान (सुनिरुद्ध) अच्छी तरह रुका है।

भावार्थ—हे पुत्रो ! कर्मों के शुभाशुभ फल होते हुए भी जो उसकी नास्तिकता बताता है वह अन्धा ही है। ऐसे को कहना पड़ता है कि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपने केवल ज्ञान के बल से स्वर्ग नरकादि देखे हैं उन के वाक्यों को प्रमाण भूत वह माने और उनके कहे हुए वाक्यों को ग्रहण कर

क्रिया) बैठे (आहितं) कहे हुए (समाहिं) समाधि मार्ग को (न) नहीं (विजाणाति) जानते हैं।

भावार्थः-हे पुत्रो ! इस संसार में अनेक प्रकार के वैभवों से युक्त जो मनुष्य हैं वे काम भोगों में आसक्त हो कर कायर की तरह बोलते हुए धर्माचरण में हठीलापन दिखाते हैं उन्हें ऐसा समझो कि वे वीतराग के कहे हुए समाधि मार्ग को नहीं जानते हैं।

> अदक्खुव दक्खुवाहियं,
> सद्दहसु अदक्खु दंसणा।
> हंदि हु सुनिरुद्ध दंसणे,
> मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (अदक्खुव) तुम अन्धे जैसों जैसा रहे हो ! (दक्खुवाहियं) जिसने देखा है उनके वाक्यों में (सद्दहसु) श्रद्धा रक्खो और (अदक्खुदंसणा) हे ज्ञान शून्य मनुष्यो ! (हंदि) ग्रहण करो वीतराग के कहे हुए आगमों को। परलोकादि नहीं है ऐसा कहने वालों के (मोहणिज्जेण) मोहवश (कडेण) अपने किये हुए (कम्मुणा) कर्मों द्वारा (दंसणे) सम्यक् ज्ञान (सुनिरुद्ध) अच्छी तरह रुका है।

भावार्थ-हे पुत्रो ! कर्मों के शुभाशुभ फल होते हुए भी जो उसकी नास्तिकता बताता है वह मिथ्या ही है। ऐसे को कहना पड़ता है कि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपने केवल ज्ञान के बल से स्वर्ग नरकादि देखे हैं उन के वाक्यों को प्रमाण भूत, यह मानें और उनके कहे हुए वाक्यों को ग्रहण कर

अभविंसु पुरा वि भिक्खुवो,
आएसावि भवंति सुव्वता ।
एयाइं गुणाइं आहु ते,
कासवस्स अणुधम्म चारिणो ॥ १० ॥

अन्वयार्थ -हे (भिक्खवो) भिक्षुओ ! (पुरा) पहले (अभविंसु) हुए को (वि) और (आएसावि) भविष्यत् में होंगे वे सब (सुव्वता) सुव्रती होने से जिन (भवंति) होते हैं । (ते) व सब जिन (एयाइं) इन (गुणाइं) गुणों को एकसे (आहु) कहते हैं । क्योंकि, (कासवस्स) ऋषभदेव एवं महावीर भगवान के (अणुधम्मचारिणो) वे धर्मानुचारी हैं ।

भावार्थ–हे भिक्षुओ ! जो बीते हुए काल में तीर्थंकर हुए हैं, उनके और भविष्यत् में होंगे उन सभी तीर्थंकरों के कथनों में अन्तर नहीं होता है । सभी का मन्तव्य एक ही सा है । क्योंकि वे सुव्रती होने से राग द्वेष रहित जो जिन पद है उसको प्राप्त कर लेते हैं । इसीलिए ऋषभदेव और भगवान् महावीर आदि सभी "ज्ञान दर्शन चारित्र से मुक्ति होती है" ऐसा एक ही सा कथन करते हैं ।

तिविहेण वि पाण माहणे,
आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे अणागयावरे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (जे) जो (आयहिते) आत्म

उनके अनुसार अपनी प्रकृति के बनावें। हे शान शून्य मनु
ष्यो! तुम कहते हो कि वर्तमान् काल में जो होता है वही
है और सब ही नास्तिक है। ऐसा कहने से तुम्हारे पिता और
पितामह की भी नास्तिकता सिद्ध होगी। और जब इन की
ही नास्तिकता होगी तो तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई? पिता
के बिना पुत्र की कभी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतः भूत
काल में भी पिता था ऐसा अवश्य मानना होगा। इसी
तरह भूत और भविष्य काल में नरक स्वर्ग आदि के होने
पाले सुख दुख भी अवश्य है। कर्मों के शुभाशुभ फल
स्वरूप नरक स्वर्गादि नहीं है ऐसा कहता है उसका मोहवश
किए हुए अधम कर्मों से सम्यक् ज्ञान ढका हुआ है।

गार [illegible] आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता स [illegible] सुव्वते, देवाणं गच्छे सलोगयं ॥११॥

शब्दार्थ—हे पुत्रो! (गार [illegible]) घर को (आवसे)
रहता हुआ (नरे) मनुष्य भी (अणुपुव्वं) जो धर्म श्रव
णादि अनुक्रम से (पाणेहिं) प्राणियों की (संजए) यत्ना
करता रहता है जिससे (सव्वत्थ) सब जगह (समता)
समभाव है जिसका ऐसा (सुव्वते) सुव्रतवान् गृहस्थ भी
(देवाणं) देवताओं के (सलोगयं) लोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थ—हे पुत्रो! जो गृहस्थावास में रह कर भी धर्म
श्रवण करके अपनी शक्ति के अनुसार अपनों तथा परायों पर
सब जगह समभाव रखता हुआ प्राणियों की हिंसा नहीं करता
है वह गृहस्थ भी इस प्रकार का व्रत अच्छी तरह पालता
हुआ स्वर्ग को जाता है। भविष्य में उस के लिए मोक्ष भी
निकट ही है।

ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की भाँति (एगन्त दुक्खे) एकान्त दुःख युक्त (लोए) लोकों में (विप्परियासुवेइ) पुनः पुनः जन्म मरण को प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त कर के फिर भी जो सम्यक्-ज्ञान आदि को प्राप्त नहीं करते हैं, और नरकादि के नाना प्रकार के दुःख रूप भयों के होते हुए भी मूर्खता के कारण विवेक को प्राप्त नहीं करते हैं वे अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की तरह एकान्त दुःखकारी जो यह लोक है, इस में पुनः पुनः जन्म मरण को प्राप्त करते हैं।

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (जहा) जैसे (कुम्मे) कछुआ (सअंगाइं) अपने अङ्गोपाङ्गों को (सए) अपने (देहे) शरीर में (समाहरे) सिकुड़ लेता है (एवं) इसी तरह (मेधावी) पण्डित जन (पावाइं) पापों को (अज्झप्पेण) अध्यात्म ज्ञान से (समाहरे) संहार कर लेते हैं

भावार्थः—हे आर्य ! जैसे कछुआ अपना अहित होता हुआ देख कर अपने अङ्गोपाङ्गों को अपने शरीर में सिकुड़ लेता है इसी तरह पण्डित जन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को आध्यात्मिक ज्ञान से संकुचित कर रखते हैं।

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेन्दियाणि य।
पावकं च परीणामं, भासा दोसं च तारिसं ॥ १४ ॥

हित के लिए (सिविहेण यि) मन वचन कम से (पाण) प्राणों का (माइवे) नहीं हनते (अस्तियाणा) निदान रहित (सयुड) इन्द्रियों का गोपे (एव) इस प्रकार का जीवन करने से (अयातसो) अनंत (सिद्धा) मोक्ष गये है और (सम्पइ) वर्तमान में जा रहे हैं (अणागयावरे) और अनागत अथात भविष्यत् में आयेंगे

भावार्थ:-हे पुत्रो ! जो आत्म हित के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पँचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी मात्र की मन वचन और कम से हिंसा नहीं करते हैं और अपनी इन्द्रियों को विषय वासना की ओर घूमने नहीं देते हैं बस इसी मत के पालन करते रहने से भूत काल में अनंत जीव मोक्ष पहुँचे हैं। और वर्तमान में जा रहे हैं। इसी तरह भविष्यत् काल में भी जायगे।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

संबुज्झहा जतवो माणुसत्तं,
  दट्ठु भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए,
  सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ - (जंतवो) हे मनुष्यो! तुम (संबुज्झहा) सम्यक् ज्ञान प्राप्त करो (माणुसत्तं) मनुष्य भव मिलना कठिन है। (भयं) नरकादि भय को (दट्ठु) देख कर (बालिसेणं) मूर्खता से विवेक को (अलंभो) जो प्राप्त नहीं करते वे (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा (जरिए व)

हैं। वास्तव में इतना जिसे सम्यक् ज्ञान है वही यथेष्ट ज्ञानी जन है। बहुत अधिक ज्ञान सम्पादन करके भी यदि हिंसा को न छोड़े, तो उसका विशेष ज्ञान भी अज्ञान रूप है।

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा
हिंसप्पसूयाइ दुहाइं मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (संबुज्झमाणे) तत्वों को जानने वाला (मतीमं) बुद्धिमान् (णरे) मनुष्य (हिंसप्पसूयाइ) हिंसा से उत्पन्न होने वाले (दुहाइं) दुखों को (वेराणुबंधीणि) कर्मबंधहेतु (महब्भयाणि) महाभयकारी (मत्ता) मान कर (पावाउ) पापसे (अप्पाण) अपनी आत्मा को (निवट्टएज्जा) निवृत्त करते रहते हैं।

भावार्थः—हे आर्य ! बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुखों को कर्म बंध का हेतु घोर महाभयकारी मान कर पापों से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

आयगुत्ते सया दंते छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणालिसं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (आयगुत्ते) आत्मा को गोपता हो (सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों का दमन करता हो (छिन्न सोए) तोड़ता है जो संसार के स्रोतों को और (अणासवे) नूतन कर्म बंधन रहित जो पुरुष हो,

अन्वयार्थः—हे आर्य! (तारिसे) कछुवे की तरह ज्ञानी जन (हत्थपाए य) हाथ और पावों की व्यर्थ चलन क्रिया को (मणं) मन की चपलता को (य) और (पंचेन्द्रियाणि) विषय की ओर घूमती हुई पाँचों ही इन्द्रियों को (य) और (पावकं) पाप के हेतु (परीणामं) आने वाले अभिप्राय को (य) और (भासा दोसं) सावद्य भाषा बोलने को (साहरे) रोक रखते हैं।

भावार्थः—हे आर्य! जो ज्ञानी जन हैं वे कछुए की तरह अपने हाथ पावों को संकुचित रखते हैं। अर्थात् उनके द्वारा पाप कर्म नहीं करते हैं। और पापों की ओर घूमते हुए इस मन के वेग को रोकते हैं। विषयों की ओर इन्द्रियों को झाँकने तक नहीं देते हैं। और बुरे भावों को हृदय में नहीं आने देते। और जिस भाषा से दूसरों का बुरा होता हो ऐसी भाषा भी कभी नहीं बोलते हैं।

एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—हे आर्य! (खु) निश्चय करके (णाणिणो) ज्ञानियों का (एयं) यह (सारं) तत्व है कि (जं) जो (कंचणं) किसी भी जीव की (न) नहीं (हिंसति) हिंसा करते (अहिंसा) अहिंसा (चेव) ही (समयं) शास्त्रीय तत्त्व है (एतावंतं) बस इतना ही (वियाणिया) विज्ञान है। यह यथेष्ट ज्ञानीजन है।

भावार्थः—हे आर्य! ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन ज्ञानियों का सारभूत तत्त्व यही है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते। वे अहिंसा ही को शास्त्रीय प्रधान विषय समझते

है। वास्तव में इतना जिसे सम्यक् ज्ञान है वही यथेष्ट ज्ञानी-जन है। बहुत अधिक ज्ञान सम्पादन करके भी यदि हिंसा को न छोड़े, तो उनका विशेष ज्ञान भी अज्ञान रूप है।

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (संबुज्झमाणे) तत्त्वों को जानने वाला (मईमं) बुद्धिमान् (नरे) मनुष्य (हिंसप्पसूयाइं) हिंसा से उत्पन्न होने वाले (दुहाइं) दुःखों को (वेराणुबंधीणि) कर्मबंधहेतु (महब्भयाणि) महाभयकारी (मत्ता) मान कर (पावाउ) पापसे (अप्पाण) अपनी आत्मा को (निवट्ट एज्जा) निवृत्त करते रहते हैं।

भावार्थः—हे आर्य ! बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुःखों को कर्म बंध का हेतु और महाभयकारी मान कर पापों से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणालिसं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (आयगुत्ते) आत्मा को गोपता हो (सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों का दमन करता हो (छिन्नसोए) छेदता है जो संसार के स्रोतों को और (अणासवे) नूतन कर्म बंधन रहित हो पुरुष हो,

वह (पडिपुण्ण) परिपूर्ण (अणेलिसम्) अनन्य (सुद्धं) शुद्ध (धम्मं) धर्म को (अक्खाति) कहता है।

भावार्थ-हे गौतम ! जो अपनी आत्मा का दमन करता है, इन्द्रियों के विषयों के साथ जो विजय को प्राप्त करता है, संसार में परिभ्रमण करने के हेतुओं को नष्ट कर डालता है और नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है, वही ज्ञानी उन सब मान्य धर्म मूलक तत्वों को कहता है।

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरो।
मेधाविणो लोभमया वतीता,
संतोसिणो नोपकरेंति पावं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बाला) जो अज्ञानी जन हैं व (कम्मुणा) हिंसादि कामों से (कम्म) कर्म को (न) नहीं (खवेंते) नष्ट करते हैं (धीरा) बुद्धिमान् मनुष्य (अकम्मुणा) अहिंसादि यों से (कम्म) कर्म (खवेंति) नष्ट करते हैं (मेधाविणो) बुद्धिमान (लोभमया) लोभ से (वतीता) रहित (संतोसिणो) संतोषी होते हैं वे (पावं) पाप (नोपकरेंति) नहीं करते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! हिंसादि के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को हिंसादि ही से जो अज्ञानी जीव नष्ट करना चाहते हैं यह उनकी भूल है। प्रत्युत कर्मनाश के बदले उनके गाढ़ कर्मों का बंध होता है। क्योंकि खून से भीगा हुआ कपड़ा खून ही के द्वारा कभी साफ नहीं होता है। बुद्धिमान तो वही हैं, जो हिंसादि के द्वारा बँधे हुए कर्मों को अहिंसा सत्य दत्त

ब्रह्मचर्य, अर्कचनादि के द्वारा नष्ट करते हैं। और वे काम की मात्रा से रहित हो कर सतोषी हो जाते हैं। वे फिर भविष्यत् में नवीन पाप कर्म नहीं करते हैं।

, डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तउ पासइ सव्व लोए।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (डहरे) छोटे (पाणे) प्राणी (य) और (वुड्ढे) बड़े (पाणे) प्राणी (ते) उन सभी को (सव्वलोए) सब लोक में (आत्तउ) आत्मवत् (पासइ) जो देखता है (इण) इस (लोगं) लोक को (महंतं) बड़ा (उव्वेहती) देखता है (बुद्धे) वह तत्वज्ञ (अपमत्तेसु) आलस रहित संयम में (परिव्वएज्जा) गमन करता है।

भावार्थः—हे गौतम! चींटियें, मकोड़े कुंथुवे आदि छोटे छोटे प्राणी और गाय भैंस बकरे आदि बड़े बड़े प्राणी आदि सभी को अपनी आत्मा के समान जो समझता है। और महान् लोक को चराचर जीव के जन्म मरण से व्याप्त देख कर जो बुद्धिमान् मनुष्य संयम में रत रहता है। वही मोक्ष में पहुँचने का अधिकारी है।

॥इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य चतुर्दशोऽध्याय ॥

अध्याय पंद्रहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

एगे जिए जिया पंच पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे मुनि ! (एगे) एक मन (जिए) जितने पर (पंच) पाँचों इन्द्रियाँ (जिया) जीत ली जाती हैं और (पंच) पाँच इन्द्रियाँ (जिए) जीतने पर (दस) एक मन पाँच इन्द्रियाँ और चार कषाय यों दसों (जिया) जीत लिये जाते हैं। (दसहा उ) दसों को (जिणित्ता) जीत कर (णं) वाक्यालंकार (सव्वसत्तू) सभी शत्रुओं को (अहं) मैं (जिणामि) जीत लेता हूँ।

भावार्थः—हे मुनि! एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली जाती है। और पाँचों इन्द्रियों को जीत लेने पर एक मन पाँच इन्द्रियाँ और क्रोध मान माया लोभ ये दसों ही जीत लिये जाते है। और इन दसों को जीत लेने से मैं सभी शत्रुओं को जीत सकता हूँ। इसीलिए सब मुनि और गृहस्थों के लिए एक बार मन को जीत लेना श्रेयस्कर है।

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥

अन्वयार्थः—हे मुनि (मणो) मन बड़ा (साहसिओ) साहसिक और (भीमो) भयंकर (दुट्ठस्स) दुष्ट घोड़े की तरह इधर उधर (परिधावइ) दौड़ता है (तं) उसको (धम्म सिक्खाइ) धर्म रूप शिक्षा से (कंथगं) जातिवंत अश्व की तरह (सम्म) सम्यक् प्रकार से (निगिण्हामि) ग्रहण करता हूँ

भावार्थः—हे मुनि! यह मन अनर्थों के करने में बड़ा साहसिक और भयंकर है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा इधर उधर दौड़ता है उसी तरह यह मन भी ज्ञान रूप लगाम के बिना इधर उधर चक्कर मारता फिरता है। ऐसे इस मन को धर्म रूप शिक्षा से जातिवंत घोड़े की तरह मैंने निग्रह कर रक्खा है। इसी तरह सब मुनियों को चाहिए कि वे ज्ञान रूप लगाम से इस मन को निग्रह करते रहें।

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा उ, मणगुत्ती चउव्विहा ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मणगुत्ती) मन गुप्ति (चउव्विहा) चार प्रकार की है। (सच्चा) सत्य (तहेव) वैसे ही (मोसा) मृषा (य) और (सच्चामोसा) सत्य मृषा (य) और (तहेव) वैसे ही (चउत्थी) चौथी (असच्चमोसा) असत्यामृषा है।

भावार्थः—हे गौतम ! मन चारों ओर घूमता रहता है। (१) सत्य विषय में; (२) असत्य विषय में; (३) कुछ सत्य और कुछ असत्य विषय में; (४) सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसे सत्यमृषा विषय में प्रवृत्ति करता है। अब यह मन असत्य,

अध्याय पंद्रहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—हे मुनि! (एगे) एक मन (जिए) जीतने पर (पंच) पाँचों इन्द्रियाँ (जिया) जीत ली जाती हैं और (पंच) पाँच इन्द्रियाँ (जिए) जीतने पर (दस) एक मन पाँच इन्द्रियाँ और चार कषाय यों दसों (जिया) जीत लिये जाते हैं। (दसहा उ) दसों को (जिणित्ता) जीत कर (मैं) शास्त्रानुसार (सव्वसत्तू) सभी शत्रुओं को (अहं) मैं (जिणामि) जीत लेता हूँ।

भावार्थ—हे मुनि! एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली जाती है। और पाँचों इन्द्रियों को जीत लेने पर एक मन पाँच इन्द्रियाँ और क्रोध मान माया लोभ ये दसों ही जीत लिये जाते हैं। और इन दसों को जीत लेने से मैं सभी शत्रुओं को जीत सकता हूँ। इसीलिए सब मुनि और गृहस्थों के लिए एक बार मन को जीत लेना आवश्यक है।

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥

अन्वयार्थः--हे मुनि (मणो) मन यह (साहसिओ) साहसिक और (भीमो) भयंकर (दुट्ठस्स) दुष्ट घोड़े की तरह इधर उधर (परिधावइ) दौड़ता है (तं) उसको (धम्म सिक्खाइ) धर्म रूप शिक्षा से (कंथगं) जातिवंत अश्व की तरह (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (निगिण्हामि) ग्रहण करता हूँ

भावार्थः--हे मुनि! यह मन अनर्थों के करने में बड़ा साहसिक और भयंकर है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा इधर उधर दौड़ता है उसी तरह यह मन भी ज्ञान रूप लगाम के बिना इधर उधर चक्कर मारता फिरता है। ऐसे इस मन को धर्म रूप शिक्षा से जातिवंत घोड़े की तरह मैंने निग्रह कर रक्खा है। इसी तरह सब मुनियों को चाहिए कि वे ज्ञान रूप लगाम से इस मन को निग्रह करते रहें।

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा उ, मणगुत्ती चउव्विहा ॥३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (मणगुत्ती) मन गुप्ति (चउव्विहा) चार प्रकार की है। (सच्चा) सत्य (तहेव) वैसे ही (मोसा) मृषा (य) और (सच्चामोसा) सत्य मृषा (य) और (तहेव) वैसे ही (चउत्थी) चौथी (असच्चमोसा) असत्यामृषा है।

भावार्थः--हे गौतम ! मन चारों ओर घूमता रहता है। (१) सत्य विषय में, (२) असत्य विषय में (३) कुछ सत्य और कुछ असत्य विषय में, (४) सत्य भी नहीं असत्य भी नहीं ऐसे सत्यामृषा विषय में प्रवृत्ति करता है। जब यह मन असत्य,

कुछ सत्य और कुछ असत्य इन दो विभागों में प्रवृत्ति करता हुआ महान् अनर्थों को उपार्जन करता है। उन अनर्थों के भार से आत्मा अधोगति में जाती है। असएव असत्य और मिश्र की ओर घूमते हुए इस मन को निग्रह कर के रखना चाहिए।

संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जयं) यत्नवान् (जई) यति (संरम्भसमारम्भे) किसी को मारने के सम्बन्ध में और पीड़ा देने के सम्बन्ध में (य) और (तहेव) वैसे ही (आरंभम्मि) उसके परिणाम के विषय में (पवत्तमाणं तु) प्रवृत्त होते हुए (मणं) मन को (नियत्तिज्ज) निवृत्त करना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम! यत्नवान् साधु हो, या गृहस्थ हो चाहे जो हो किन्तु मन के द्वारा कभी भी ऐसा विचार तक न करे कि अमुक को मार डालूँ या उसे किसी तरह पीड़ित कर दूँ। तथा उसका सर्वस्व नष्ट कर डालूँ। क्योंकि

---

(१) नियत्तिज्ज ऐसा भी कहीं कहीं आता है, वे दोनों शुद्ध हैं। क्योंकि क, ग, च, ज आदि वर्णों का लोप करने से "अ" अवशेष रह जाता है। उस जगह "अवर्णो य श्रुतिः" इस सूत्र से 'अ' की जगह "य" का आदेश होता है ऐसा अन्यत्र भी समझ लें।

मन के द्वारा ऐसा विचार मात्र कर लेने से वह आत्मा महा पातकी बन जाती है। अतएव हिंसक अशुभ परिणामों की ओर जाते हुए इस मन को पीछा घुमाओ और निग्रह कर के रक्खो। इसी तरह कर्म बन्धने की ओर घूमते हुए, वचन और काया को भी निग्रह करके रक्खो।

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (वत्थगंधमलंकारं) वस्त्र, सुगंध भूषण (इत्थीओ) स्त्रियाँ (य) और (सयणाणि) शय्या वगैरह को (अच्छंदा) पराधीन होने से (जे) जो (न) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं (से) वे (चाइ) त्यागी (न) नहीं (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थः—हे आर्य! सम्पूर्ण परित्याग अवस्था में या गृहस्थ की सामायिक अथवा पौषध अवस्था में अथवा त्याग होने पर कई प्रकार के बढ़िया वस्त्र सुगंध इत्र आदि भूषण वगैरह एवं स्त्रियों और शय्या आदि के सेवन करने की जो मन द्वारा केवल इच्छा मात्र ही करता है परन्तु उन वस्तुओं को पराधीन होने से भोग नहीं सकता है तदपि ऐसी इच्छा करने वाले को त्यागी नहीं कहते हैं।

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (कंते) सुन्दर ऐसे (पिए) मन मोहक (लद्धे) पाये हुए (भोए) भोगों को (जे)

ना (विपिट्ठिकुव्वइ) पीठ दे देवें वही नहीं जो (भोए) भोग (साहीणे) स्वाधीन है उन्हें भी (चयइ) छोड़ देता है। (हु) निश्चय (से) वह (चाइ) त्यागी है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहते हैं।

भावार्थ—हे गौतम! जो गृहस्थाश्रम में रह रहा है, उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगों से उदासीन रहता है अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगों को पीठ दे देता है यही नहीं स्वाधीन होते हुए भी उन भोगों का परित्याग करता है। वह निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (समाए) समभाव से (पेहाए) देखता हुआ जो (परिव्वयंतो) सदाचार सेवन में रमण करता है। उस समय (सिया) कदाचित् (मणो) मन उसका (बहिद्धा) संयम जीवन से बाहर (निस्सरई) निकल जाय तो विचार करे कि (सा) वह सम्पत्ति (महं) मेरी (न) नहीं है। और (अहं पि) मैं भी (तीसे) उस का (नो वि) नहीं हूँ। (इच्चेव) इस प्रकार विचार कर (ताओ) उस सम्पत्ति से (रागं) स्नेह भाव को (विणएज्ज) दूर करना चाहिए।

भावार्थ- हे आर्य! सभी जीवों पर समदृष्टि रख कर धार्मिक ज्ञानादि गुणों में रमण करते हुए भी प्रमाद वश यह मन कभी कभी संयमी जीवन से बाहर निकल जाता है। क्योंकि हे गौतम! यह मन बड़ा चंचल है, वायु की गति से भी अधिक गतिवान् है, अतः जब संसार के मनमोहक पदार्थों की ओर यह मन चला जाय, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि मन की यह चपलता है जो सांसारिक प्रपंच की ओर घूमता है। स्त्री पुत्र धन और सम्पत्ति मेरी नहीं है। और मैं भी उन का नहीं हूँ। ऐसा विचार कर उस सम्पत्ति से स्नेह भाव को दूर करना चाहिए। जो इस प्रकार मन को निग्रह करता है वही उत्तम मनुष्य है।

पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुण परिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासवो ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जीवो) जो जीव (पाणिवहमुसावाए) प्राणवध मृषावाद (अदत्तमेहुणपरिग्गहा) चोरी, मैथुन और ममत्व से (विरओ) विरक्त रहता है। और (राईभोयण विरओ) रात्रि भोजन से भी विरक्त रहता है, वह (अणासवो) अनाश्रवी (होइ) होता है

भावार्थ-हे गौतम! आत्मा ने चाहे जिस जाति व कुल में जन्म लिया हो अगर वह हिंसा, झूठ चोरी व्यभिचार ममत्व और रात्रि भोजन से पृथक रहती हो तो वही आत्मा अनाश्रव [Free from the influx of karma] होती है। अर्थात् उसके भावी नवीन पाप रुक जाते हैं। और जो पूर्व भवों के संचित कर्म हैं, वे यहाँ भोग करके नष्ट कर दिये जाते हैं।

जो (विपिट्ठिकुव्वइ) पीठ दे देवे, यही नहीं, जो (भोए) भोग (साहीणे) स्वाधीन हैं उन्हें भी (चयई) छोड़ देता है। (हु) निश्चय (से) वह (चाइ) त्यागी है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जो गृहस्थाश्रम में रह रहा है, उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगों से उदासीन रहता है अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगों को पीठ दे देता है यही नहीं स्वाधीन होते हुए भी उन भोगों का परित्याग करता है। वही निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (समाए) समभाव से (पेहाए) देखता हुआ जो (परिव्वयंतो) सदाचार सेवन में रमण करता है। उस समय (सिया) कदाचित् (मणो) मन उसका (बहिद्धा) संयम जीवन से बाहर (निस्सरई) निकल जाय तो विचार करे कि (सा) वह सम्पत्ति (महं) मेरी (न) नहीं है। और (अहं पि) मैं भी (तीसे) उस का (नो वि) नहीं हूँ। (इच्चेव) इस प्रकार विचार कर (ताओ) उस सम्पत्ति से (रागं) स्नेह भाव को (विण-एज्ज) दूर करना चाहिए।

भावार्थ--हे आय ! सभी जीवों पर समदृष्टि रख कर आत्मिक ज्ञानादि गुणों में रमण करते हुए भी प्रमाद वश यह मन कभी कभी संयमी जीवन से बाहर निकल जाता है; क्योंकि हे गौतम ! यह मन बड़ा चंचल है वायु की गति से भी अधिक गतिवान् है, अत: जब संसार के मनमोहक पदार्थों की ओर यह मन चला जाय उस समय यों विचार करना चाहिए कि मन की यह वृत्ता है, जो सांसारिक प्रपंच की ओर घूमता है। स्त्री पुत्र धन वगैरह सम्पत्ति मेरा नहीं है। और मैं भी उन का नहीं हूँ। ऐसा विचार कर उस सम्पत्ति से स्नेह भाव को दूर करना चाहिए। जो इस प्रकार मन को निग्रह करता है, वही उत्तम मनुष्य है।

पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुण परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो होइ अणासवो ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जीवो) जो जीव (पाणिवहमुसावाए) प्राणवध मृषावाद (अदत्तमेहुणपरिग्गहा) चोरी मैथुन और ममत्व से (विरओ) विरक्त रहता है। और (राइभोयण विरओ) रात्रि भोजन से भी विरक्त रहता है वह (अणासवो) अनाश्रवी (होइ) होता है

भावार्थ-हे गौतम ! आत्मा ने चाहे जिस जाति व कुल में जन्म लिया हो अगर वह हिंसा, झूठ चोरी व्यभिचार ममत्व और रात्रि भोजन से पृथक रहती हो तो वही आत्मा अनाश्रव [Free from the influx of karma] होती है। अर्थात् उसके भावी नवीन पाप रुक जाते हैं। और जो पूर्व भवों के संचित कर्म हैं वे यहीं भोग करके नष्ट कर दिये जाते हैं।

उन (विपिट्ठिकुव्वइ) पीठ दे देवे, यही नहीं जो (भोए) भोग (साहीणे) स्वाधीन हैं उन्हें भी (चयइ) छोड़ देता है। (हु) निश्चय (से) वह (चाइ) त्यागी है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो गृहस्थाश्रम में रह रहा है उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगों से उदासीन रहता है अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगों को पीठ दे देता है यही नहीं स्वाधीन होते हुए भी उन भोगों का परित्याग करता है। वही निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

> समाए पेहाए परिव्वयंतो,
> सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
> न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
> इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (समाए) समभाव से (पेहाए) देखता हुआ जो (परिव्वयंतो) सदाचार सेवन में रमण करता है। उस समय (सिया) कदाचित् (मणो) मन उसका (बहिद्धा) संयम जीवन से बाहर (निस्सरई) निकल जाय तो विचार करे कि (सा) वह सम्पत्ति (महं) मेरी (न) नहीं है। और (अहं पि) मैं भी (तीसे) उस का (नो वि) नहीं हूँ। (इच्चेव) इस प्रकार विचार कर (ताओ) उस सम्पत्ति से (रागं) स्नेह भाव को (विणएज्ज) दूर करना चाहिए।

तप से उसका शोषण हो जाता है। इसी तरह संयमी जीवन बिताने वाला यह जीव भी हिंसा, झूँठ, चोरी, व्यभिचार और ममत्व द्वारा आते हुए पाप को रोक कर, जो करोड़ों भवों में पहले संचित किये हुए कर्म हैं उन को तपस्या द्वारा क्षय कर लेता है

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भिंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भिंतरो तवो ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (सो) वह (तवो) तप (दुविहो) दो प्रकार का (वुत्तो) कहा गया है। (बाहिरब्भिंतरो तहा) बाह्य तथा आभ्यन्तर (बाहिरो) बाह्य तप (छव्विहो) छः प्रकार का (वुत्तो) कहा है। (एवं) इसी प्रकार (अब्भिंतरो) आभ्यन्तर (तवो) तप भी है।

भावार्थः—हे आर्य! जिस तप से पूर्व संचित कर्म नष्ट किये जाते हैं वह तप दो प्रकार का है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य के छः प्रकार हैं। इसी तरह आभ्यन्तर के भी छः प्रकार हैं।

अणसणमूणोयरिया,
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया,
य बज्झो तवो होइ ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! बाह्य तप के छः भेद यों हैं-(अणसणमूणोयरिया) अनशन, ऊनोदरिका (य)

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे॥ ९॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (महातलागस्स) बड़े भारी एक तालाब के (जलागमे) जल के आने के मार्ग को (सन्निरुद्धे) रोक देने पर फिर उस में का रहा हुआ पानी (उस्सिंचणाए) उलीचने से तथा (तवणाए) सूर्य के आतप से (कमेणं) क्रमशः (सोसणा) उस का शोषण (भवे) होता है।

भावार्थः–हे आर्य! जिस प्रकार एक बड़े भारी तालाब के जल आने के मार्ग को रोक देने पर नवीन जल उस तालाब में नहीं आ सकता है। फिर उस तालाब में रहे हुए जल को किसी प्रकार उलीच कर बाहर निकाल देने से अथवा सूर्य के आतप से क्रमशः वह सरोवर सूख जाता है। अर्थात् फिर उस तालाब में पानी नहीं रह सकता है।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ॥ १०॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (एवं) इस प्रकार (पावकम्मनिरासवे) नवीन पाप कर्मों का आना रुक गया है ऐसे (संजयस्सावि) संयमी जीवन बिताने वाले के (भवकोडिसंचियं) करोड़ों भवों के पूर्वोपार्जित (कम्मं) कर्मों को (तवसा) तप द्वारा (निज्जरिज्जइ) क्षय करते हैं।

भावार्थः–हे गौतम! जैसे तालाब में नवीन आते हुए पानी को रोक कर पहले के पानी को उलीचने से तथा आ-

यह (अर्ब्भिंतरो) आभ्यन्तर (तवो) तप है।

भावार्थः-हे आर्य ! यदि भूल से कोई गलती हो गयी हो तो उसकी आलोचक के पास आलोचना करके शिक्षा ग्रहण करना इस को प्रायश्चित तप कहते हैं। विनम्र भावों मय अपना रहन सहन बना लेना यह विनय तप कहलाता है। सेवा धर्म के महत्व को समझकर सेवा धर्म का सेवन करना वैयावृत्य नामक तप है, इसी तरह शास्त्रों का मनन पूर्वक पठन पाठन करना स्वाध्याय तप है। शास्त्रों में बताये हुए तत्वों पर बारीक दृष्टि से उनका मनन पूर्वक चिन्तवन करना ध्यान तप कहलाता है, और वीरासन पद्मासन गोदुहासन आदि आसन करना यह छठा व्युत्सर्ग तप है। यों ये छः प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं। इन बारह प्रकार के तप में से, जितने भी बन सकें, उतने प्रकार के तप करके पूर्व संचित करोड़ों जन्मों के कर्मों को यह जीव सहज ही में नष्ट कर सकता है।

> रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
> अकालिअं पावइ से विणासं।
> रागाउरे से जह वा पयंगे,
> आलोअलोले समुवेइ मच्चु ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जो) जो प्राणी (रूवेसु) रूप देखने में (गिद्धिं) गृद्धि को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है (जह वा) जैसे (आलो-अलोले) देखने में लोलुप (से) वह (पयंगे) पतंग (राग-

और (भिक्खायरिया) भिक्षाचर्या (रसपरिच्चाओ) रस-परित्याग (कायकिलेसो) काय क्लेश (य) और (संलीणया) जो इन्द्रियों को वश में करना। यह छः प्रकार का (बज्झो) बाह्य (तवो) तप (होइ) है।

भावार्थ—हे गौतम! एक दिन दो दिन यों छः छः महीने तक भोजन का परित्याग करना या सर्वथा प्रकार से भोजन का परित्याग कर संथारा करके उसे अनशन [Giving up food and water for some time or permanently] तप कहते हैं। भूख सहन कर कुछ कम खाना उसको ऊनोदरी तप कहते हैं। अनैमित्तिक भोजी हो कर नियमानुकूल माँग करके भोजन खाना वह भिक्षाचर्या नाम का तप है। घी दूध दही तेल और मिष्टान्न आदि का परित्याग करना वह रस परित्याग तप है। शीत व ताप आदि को सहन करना वह कायक्लेश नाम का तप है। और पाँचों इन्द्रियों को वश में करना एवं क्रोध मान माया लोभ पर विजय प्राप्त करना मन वचन काया के अशुभ योगों को रोकना यह छठा 'संलीनता तप है। इस तरह बाह्य तप करके आत्मा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर सकती है।

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! आभ्यन्तर तप के छः भेद यों हैं। (पायच्छित्तं) प्रायश्चित (विणओ) विनय (वेयावच्चं) वैयावृत्य (तहेव) वैसे ही (सज्झाओ) स्वाध्याय (झाणं) ध्यान (च) और (विउस्सग्गो) व्युत्सर्ग (एसो)

यह (अब्भिंतरो) आभ्यन्तर (तवो) तप है।

भावार्थः-हे आर्य! यदि भूल से कोई गलती हो गयी हो तो उसकी आलोचक के पास आलोचना करके शिक्षा ग्रहण करना इस को प्रायश्चित तप कहते हैं। विनम्र भावों सब अपना रहन सहन बना लेना यह विनय तप कहलाता है। सेवा धर्म के महत्त्व को समझकर सेवा धर्म का सेवन करना वैयावृत्य नामक तप है, इसी तरह शास्त्रों का मनन पूर्वक पठन पाठन करना स्वाध्याय तप है। शास्त्रों में बताये हुए तत्त्वों पर बारीक दृष्टि से उनका मनन पूर्वक चिन्तवन करना ध्यान तप कहलाता है, और वीरासन उत्कटासन गोदुहासन आदि आसन करना, यह छठा व्युत्सर्ग तप है। यों ये छः प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं। इन बारह प्रकार के तप में से, जितने भी बन सकें, उतने प्रकार के तप करके पूर्व संचित करोड़ों जन्मों के कर्मों को यह जीव सहज ही में नष्ट कर सकता है।

> रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
> अकालिअं पावइ से विणासं।
> रागाउरे से जह वा पयंगे,
> आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जो) जो प्राणी (रूवेसु) रूप देखने में (गिद्धिं) गृद्धि को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है (जह वा) जैसे (आलोअलोले) देखने में लोलुप (से) वह (पयंगे) पतंग (राग-

३१) रागातुर (मच्चु)मृत्यु का (समुवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थ -हे गौतम ! जैसे देखने का लोलुपी पतंग उज्वल हुए दीपक की लौ पर गिर कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। वैसे ही जो आत्मा इन चक्षुओं के वशवर्ती हो विषय सेवन में अत्यन्त लोलुप हो जाती है वह शीघ्र ही असमय में अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है।

> सद्दसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
> अकालिअं पावइ से विणासं।
> रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
> सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चु ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (व्व) जैसे (रागाउरे) रागातुर (मुद्धे) मुग्ध (सद्दे) शब्द के विषय से(अतित्ते) अतृप्त (हरिणमिए) हरिण है वह (मच्चुं) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है; वैसे ही (जो) जो आत्मा (सद्देसु) शब्द विषयक (गिद्धिं) गृद्धि को (मुवेइ) प्राप्त होती है (से) वह (अकालिअं) असमय में (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाती है

भावार्थ —हे आर्य ! राग भाव में तल्लीन हित अहित तक का अनभिज्ञ गान विषयक विषय में अतृप्त ऐसा जो हिरण है वह केवल श्रोतेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अपना प्राण खो बैठता है। उसी तरह जो आत्मा श्रोतेन्द्रिय के विषय में लोलुप होती है वह शीघ्र ही असमय में मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंध गिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥१६॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति ! (ओसहिगंध गिद्धे) नाग दमनी औषध की गंध में मग्न जो (रागाउरे) रागातुर (सप्पे) सर्प (बिलाओ) बिल से बाहर (निक्खमंते) निकलने पर नाश हो जाता है (विव) ऐसे ही (जो) जो जीव (गंधेसु) गंध में (गिद्धि) गृद्धिपने को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थ-हे गौतम ! जैसे नागदमनी गंध का लोलुप ऐसा जो रागातुर सर्प है वह अपने बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त होता है । वैसे ही जो जीव इस गंध विष यक पदार्थों में लीन हो जाता है वह शीघ्र ही असमय में अपनी आयु का अन्त कर बैठता है ।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे बडिस विभिन्नकाए,

मच्छे जहा आमिस भोग गिद्धे ॥१७॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आमिस-भोगगिद्धे) माँस भक्षण के स्वाद में लोलुप ऐसा जो (रागाउरे) रागातुर (मच्छे) मच्छ (बडिसविभिन्नकाए) माँस

३२) रागातुर (मच्चु)मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थ : हे गौतम ! जैसे देखने का लोलुपी पतंग जलते हुए दीपक की लौ पर गिर कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। वैसे ही जो आत्मा इन चक्षुओं के वशवर्ती हो विषय सेवन में अत्यन्त लोलुप हो जाती है वह शीघ्र ही असमय में अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है।

सद्दसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
　　अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
　　सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (व्व) जैसे (रागाउरे) रागातुर (मुद्धे) मुग्ध (सद्दे) शब्द के विषय से(अतित्ते) अतृप्त (हरिणमिए) हरिण है वह (मच्चुं) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है। वैसे ही (जो) जो आत्मा (सद्देसु) शब्द विषयक (गिद्धिं) गृद्धि को (मुवेइ) प्राप्त होती है (से) वह (अकालियं) असमय में (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाती है

भावार्थ –हे आर्य ! राग भाव में तल्लीन हित अहित तक का अनभिज्ञ गान विषयक विषय में अतृप्त ऐसा जो हिरण है वह केवल श्रोतेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अपना प्राण को देता है। उसी तरह जो आत्मा श्रोतेन्द्रिय के विषय में लोलुप होती है वह शीघ्र ही असमय में मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

वह रागातुर भैंसा मगर से जब घेरा जाता है तो मरण के लिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। ऐसे ही जो मनुष्य अपनी स्पर्शेन्द्रिय जन्य विषय में लोलुप होता है, वह शीघ्र ही असमय में नाश को प्राप्त हो जाता है

हे गौतम! जब इस प्रकार एक एक इन्द्रिय के वशवर्ती हो कर भी ये प्राणी अपना प्राणान्त कर बैठते हैं तो भला उन की क्या गति होगी! जो पाँचों इन्द्रियों को पाकर उनके विषय में लोलुप हो रहे हैं। अतः पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और श्रेष्ठ धर्म है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य पञ्चदशोऽध्यायः॥

या मारा भगा हुआ ऐसा जो लोभवश कांटा उस से बिंधकर नष्ट हो जाता है। ऐसे ही (जो) जो जीव (रसेसु) रस में (गिद्धिं) गृद्धिपन को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालियं) असमय में ही (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार मांस भक्षण के स्वाद में लोलुप जो रागातुर मत्स्य है वह मरणावस्था को प्राप्त होता है। ऐसे ही जो आत्मा इस रसेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अत्यन्त गृद्धिपन को प्राप्त होती है वह असमय ही में शीघ्र परलोक गामी बन जाती है।

> फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
> अकालिअं पावइ से विणासं।
> रागाउरे सीयजलावसन्ने,
> गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (व) जैसे (रण्णे) अरण्य में (सीयजलावसन्ने) शीतल जल में बैठे रहने का अभिलाषी ऐसा जो (रागाउरे) रागातुर (महिसे) भैंसा (गाहग्गहीए) मगर के द्वारा पकड़ लेने पर मारा जाता है ऐसे ही (जो) मनुष्य (फासस्स) त्वचा विषयक विषय के (गिद्धिं) गृद्धिपन को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालियं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है।

भावार्थः—जैसे बड़ी भारी नदी में त्वचेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर और शीतल जल में बैठकर आनंद मानने वाला

वह रागातुर भैंसा मगर से जब घेरा जाता है तो सदा के लिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। ऐसे ही जो मनुष्य अपनी स्पर्शेन्द्रिय जन्य विषय में लोलुप होता है, वह शीघ्र ही असमय में नाश को प्राप्त हो जाता है

हे गौतम ! जब इस प्रकार एक एक इन्द्रिय के वशवर्ती हो कर भी ये प्राणी अपना प्राणान्त कर बैठते हैं तो भला उन की क्या गति होगी ? जो पाँचों इन्द्रियों को पाकर उनके विषय में लोलुप हो रहे हैं। अतः पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य मात्र का परम कर्तव्य और श्रेष्ठ धर्म है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य पञ्चदशोऽध्यायः॥

अध्याय सोलहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

समरेसु अगारेसु, सन्धीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं, णेव चिट्ठे ण संलवे॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (समरेसु) लुहार की शाला में (अगारेसु) घरों में (सन्धीसु) दो मकानों की बीच की संधि में (य) और (महापहे) मोटे पंथ में (एगो) अकेला (एगित्थिए) अकेली स्त्री के (सद्धिं) साथ (णेव) न तो (चिट्ठे) खड़ा ही रहे और (ण) न (संलवे) वार्तालाप करे।

भावार्थ—हे गौतम ! लुहार की शून्य शाला में या पड़े हुए खण्डहरों में तथा दो मकानों के बीच की संधि में और जहां अनेकों मार्ग आकर मिलते हों वहाँ अकेला पुरुष अकेली औरत के साथ न कभी खड़ा ही रहे और न कभी कहीं उससे वार्तालाप ही करे।

साणे सूइय गाविं दित्त गोण हये गय।
संडिब्भ कलहं जुद्ध, दूरओ परिवज्जए ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (साणे) श्वान (सूइयं) प्रसूता (गाविं) गौ (दित्तं) मतवाला (गोणं) बैल

(हयं) घोड़ा (गयं) हाथी इन को और (संडिब्भं) बालकों के क्रीडास्थल (कलहं) वाग्युद्ध की जगह (जुद्धं) शस्त्र युद्ध की जगह आदि को (दूरओ) दूर ही से (परिवज्जए) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः—हे आर्य! जहाँ श्वान, प्रसूता गाय मतवाला बैल हाथी घोड़े खड़े हों या परस्पर लड़ रहे हों वहाँ ज्ञानी जन को नहीं जाना चाहिए। इसी तरह जहाँ बालक खेल रहे हों। या मनुष्यों में परस्पर वाक् युद्ध हो रहा हो अथवा शस्त्र-युद्ध हो रहा हो ऐसी जगह पर जाना बुद्धिमानों के लिए दूर से ही त्याज्य है।

एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एअं धम्महियं णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (एगया) कभी (अचेलए) वस्त्र रहित (होइ) हो (एगया) कभी (सचेलेआवि) वस्त्र सहित हो उस समय समभाव रखना (एअं) यह (धम्महियं) धर्म हितकारी (णच्चा) जान कर (णाणी) ज्ञानी (णो) नहीं (परिदेवए) खेदित होता है।

भावार्थः—हे गौतम! कभी ओढ़ने को वस्त्र हो या न हो उस अवस्था में समभाव से रहना बस इसी धर्म को हितकारी जान कर योग्य वस्त्रों के होने पर अथवा वस्त्रों के बिलकुल अभाव में या फटे टूटे वस्त्रों के सद्भाव में ज्ञानी जन कभी खेद नहीं पाते।

अक्कोसेज्जा परे भिक्खु, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥४॥

करे। ऐसा करने से (जम्मणमरणाणि) अनेकों जन्म मरण हों ऐसा कर्म (बंधति) बाँधता है।

भावार्थः-हे गौतम! जो अपनी आत्म-हत्या करने के लिए तलवार फरसी कटारी आदि शस्त्र का प्रयोग करे। या अफीम सोमिया मोरा बछनाग हिरकणी आदि का उपयोग करे अथवा अग्नि में पड़ कर या अग्नि में प्रवेश कर या कुआ बावड़ी नदी, तालाब में गिर कर मरे तो उसका यह मरण अज्ञान पूर्वक है। इस प्रकार मरने से अनेक जन्म और मरणों की वृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं होता है। और जो मर्यादा के विरुद्ध अपने जीवन को कलुषित करने वाली सामग्री ही को प्राप्त करने के लिये रात दिन जुटा रहता है, ऐसे पुरुष की आयुष्य पूर्ण होने पर भी उसका मरण आत्म-हत्या के समान ही है।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (अह) इसके बाद (जेहिं) जिन (पंचहिं) पाँच (ठाणेहिं) कारणों से (सिक्खा) शिक्षा (न) नहीं (लब्भई) पाता है वे यों हैं। (थंभा) मान से (कोहा) क्रोध से (पमाएणं) प्रमाद से (रोगेणालस्सएण य) रोग से और आलस से।

भावार्थः-हे आर्य! जिन पाँच कारणों से इस आत्मा को ज्ञान प्राप्त नहीं होता है वे यों हैं-क्रोध करने से मान करने से किये हुए कण्ठस्थ ज्ञान का स्मरण नहीं करके नवीन ज्ञान सीखने जाने से रोगी अवस्था से और आलस से।

-

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ॥ ६ ॥
नासीले न विसीले अ, न सिआ अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अह) अब (अट्ठहिं) आठ (ठाणेहिं) स्थान कारणों से (सिक्खासीले) शिक्षा प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है। (अहस्सिरे) हँसने वाला न हो (सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों को दमन करने वाला हो (य) और (मम्म) मर्म भाषा (न) नहीं (उदाहरे) बोलता हो (असीले) सर्वथा शील रहित (न) नहीं हो (अ) और (विसीले) शील दूषित करने वाला (न) न हो (अइलोलुए) अति लोलुपी (न) न (सिआ) हो (अकोहणे) क्रोध न करने वाला हो (सच्चरए) सत्य में रत रहता हो वह (सिक्खासीले) ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! अगर किसी को ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो न विशेष हँसे न सदैव खेल नाटक वगैरह देखने आदि के विषयों से इन्द्रियों का दमन करते रहे किसी की मार्मिक बात को प्रकट न करे शीलवान् रहे अपना आचार विचार शुद्ध रक्खे अति लोलुप से सदा दूर रहे क्रोध न करे और सत्य का सदैव अनुयायी बना रहे, इस प्रकार रहने से ज्ञान की विशेष प्राप्ति होती रहती है।

जे सप्पपण छुविए पउजमाणे
निमित्तकोऊहंससपगाढे ।

दर। गया करने म (जम्ममरणा णि) बारबार जन्म मरण हा मा कम (करता) बांधता है।

भावार्थ :-हे गौतम ! जो अपनी आत्म हत्या करने के लिए शस्त्र प्रयोग करता, आदि शस्त्र का प्रयोग करे। या विष खा जाए अथवा वत्समाग टिरकणी आदि का उपयोग कर अथवा अग्नि में पड़ कर या अग्नि में प्रवेश कर या कूआ या तालाब में गिर कर मरे तो उनका यह मरना अज्ञान पूर्वक है। इस प्रकार मरने से अनन्त जन्म और मरण की वृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं होता है। और जो मर्यादा के विरुद्ध अपने जीवन को असुचित करने वाले सामग्री का प्राप्त करने के लिये रात दिन जुटा रहता है उस पुरुष की आयुष्य पूर्ण होने पर भी उसका मरण भी बाल मरण के समान ही है।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (अह) उसके बाद (जेहिं) जिन (पंचहिं) पाँच (ठाणेहिं) कारणों से (सिक्खा) शिक्षा (न) नहीं (लब्भई) पाता है वे यों हैं। (थम्भा) मान से (कोहा) क्रोध से (पमाएणं) प्रमाद से (रोगेणा-लस्सएणय) रोग से और आलस से।

भावार्थः-हे आर्य ! जिन पाँच कारणों से इस आत्मा को ज्ञान प्राप्त नहीं होता है वे यों हैं--क्रोध करने से मान करने से किये हुए कण्ठस्थ ज्ञान का स्मरण नहीं करके नवीन ज्ञान सीखते जाने से रोगी अवस्था से और आलस से।

(पावकारिणो) पाप करने वाले हैं । वे (घोरे) महा भयंकर (नरए) नरक में (पडंति) जा कर गिरते हैं। (च) और (आरियं) सदाचार रूप प्रधान (धम्म) धर्म को जो (चरित्ता) अंगीकार करते हैं, वे मनुष्य (दिव्वं) श्रेष्ठ (गइं) गति को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थ हे आर्य ! जो आत्माएँ मानव जन्म को पा करके हिंसा झूँठ, चोरी, आदि दुष्कृत्य करती हैं वे पापात्माएँ, महाभयंकर जहाँ दुख है ऐसे नरक में जा गिरेंगी। और जिन आत्माओं ने अहिंसा सत्य दया, ब्रह्मचर्य आदि धर्म को अपने जीवन में खूब समझ कर लिया है वे आत्माएँ यहाँ से मरने के पीछे जहाँ स्वर्गीय सुख अधिकता से होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ स्वर्ग में जाती हैं।

> दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
> मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
> तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
> लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जस्स) जिसके (मोहो) मोह (न) नहीं (होइ) है उसने (दुक्खं) दुख को (हयं) नष्ट कर दिया है। और (जस्स) जिसके (तण्हा) तृष्णा (न) नहीं (होइ) होती है उसने (मोहो) मोह को (हओ) नष्ट कर दिया है । और (जस्स) जिसके (लोहो) लोभ(न) नहीं (होइ) है उसने (तण्हा) तृष्णा को (हया) नष्ट किया है। और (जस्स) जिसके (किंचणाइं) धन वगैरह का ममत्व (न) नहीं (होइ) है उसने (लोहो) लोभ को (हओ) नष्ट कर दिया है ।

कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छइ सरणं तम्मि काले ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति ! (जे) जो साधु हो कर (लक्खणं) स्त्री पुरुष के हाथादि की रेखाओं के लक्षण और (सुविणं) स्वप्न का फलादेश बताने का (पउंजमाणे) प्रयोग करते हों एवं (निमित्तकोऊहलसंपगाढे) भूकम्पादि बताने तथा कौतूहल करने में या पुत्रोत्पत्ति के साधन बताने में आसक्त हो रहा हो इसी तरह (कुहेडविज्जासवदारजीवी) मंत्र तंत्र विद्या रूप आस्रव के द्वारा जीवन निर्वाह करता हो उसको (तम्मि काले) कर्मोदय काल में (सरणं) दुख से बचने के लिए किसी की शरण (न) नहीं (गच्छई) प्राप्त होती है।

भावार्थ:-हे गौतम ! जो सब प्रपंच छोड़ करके साधु तो हो गया है मगर फिर भी वह स्त्री पुरुषों के हाथ व पैरों की रेखाएँ एवं तिल मस आदि के भले बुरे फल बताता है, या स्वप्न के शुभाशुभ फलादेश को जो कहता है और भूकम्पादि एवं पुत्रोत्पत्ति के साधन बताता है इसी तरह मंत्र तंत्रादि विद्या रूप आस्रव के द्वारा जीवन का निर्वाह करता है तो उस के अन्त समय में जब वे कर्म फल स्वरूप में आकर खड़े होंगे उस समय उसके कोई भी शरण नहीं होंगे अर्थात् उस समय उस दुख से कोई भी नहीं बचा सकेगा।

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य

ऐसे पुरुष (सवेणाया य) नौका के समान जल के ऊपर रहते हुए हैं। ऐसा (आहिया) कहा गया है। (नावा) जैसे नौका अनुकूल वायु से (तीरसम्पत्ता) तीर पर पहुँच जाती है (व) वैसे ही नौका रूप शुद्धात्मा के उपदेश से जीव (सव्वदुक्खा) सर्व दुखों से (तिउट्टइ) मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! शुद्धभावना रूप ध्यान से हो रही है आत्मा निर्मल जिनकी ऐसी शुद्धात्मा संसार रूप समुद्र में नौका के समान हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। वे नौका के समान शुद्धात्मा आप स्वयं तिर जाती है। और उनके उपदेश से अन्य जीव भी चारित्रवान् होकर सर्व दुःख रूप संसार समुद्र का अन्त करके उसके परले पार पहुँच जाते हैं।

सवणे णाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धी ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! ज्ञानी जनों के संसर्ग से (सवणे) धर्म श्रवण होता है। धर्म श्रवण से (णाणे) ज्ञान होता है। ज्ञान से (विण्णाणे) विज्ञान होता है। विज्ञान से (पच्चक्खाणे) दुराचार का त्याग होता है। (य) और त्याग से (संजमे) संयमी जीवन होता है। संयमी जीवन से (अणण्हए) अनाश्रवी होता है (चेव) और अनाश्रवी होने से (तवे) तपवान् होता है। तपवान् होने से (वोदाणे) पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है और कर्मों के नाश होने से। (अकिरिया) सावद्य क्रिया रहित होता है। और सावद्य क्रिया रहित होने से (सिद्धी) सिद्धी की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हे गौतम ! जिस के मोह नहीं है उसने सब दुःखों का नाश कर डाला है। जिसके तृष्णा नहीं है उसने मोह का नाश कर दिया है। जिसे लोभ नहीं है उसने तृष्णा को दमन कर दिया है और जिसे कुछ भी ममत्व नहीं है उसने लोभ का नाश कर दिया है।

बहुआगमविएणाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बहुआगम विण्णाणा) बहुत शास्त्रों का जानने वाला हो (समाहिउप्पायगा) कहने वाले को समाधि उत्पन्न करने वाला हो (य) और (गुणगाही) गुणग्राही हो (एएण) इन (कारणेणं) कारणों से (आलोयणं) आलोचना को (सोउं) सुनने के लिए (अरिहा) योग्य है।

भावार्थः—हे आर्य ! आन्तरिक बात उसके सामने प्रकट की जाय जो कि बहुत शास्त्रों को जानता हो। जो प्रकाशक को शान्ति देने वाला हो गुणग्राही हो। उसी के सामने अपने हृदय की बात खुले दिल से करने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि इन बातों से युक्त मनुष्य ही आलोचक के योग्य है।

भावणा जोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (भावणा) शुद्ध भावना रूप (जोगसुद्धप्पा) योग से शुद्ध हो रही है आत्मा जिसकी

झूँठ बोलना चोरी करना, व्यभिचार का सेवन करना आदि दुष्कर्म बढ़ जाते हैं। और इन दुष्कर्मों से आत्मा को महान् कष्ट होता है। अतः मोक्षाभिलाषियों को अज्ञानियों की संगति कभी भूल कर भी नहीं करनी चाहिए।

आवस्सय अवस्सं करणिज्जं,
 धुवनिग्गहो विसोहियं।
अज्झयणछक्कवग्गो,
 नाओ आराहणामग्गो ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (धुवनिग्गहो) सदैव इन्द्रियों को निग्रह करने वाला (विसोहियं) आत्मा को विशेष प्रकार से शोधित करने वाला (नाओ) न्याय के काँटे के समान (आराहणा) जिससे वीतराग के वचनों का पालन हो ऐसा (मग्गो) मोक्ष मार्ग रूप (अज्झयणछक्कवग्गो) छः वर्ग अध्ययन" हैं पढ़ने के जिसके ऐसा (आवस्सय) आवश्यक-प्रतिक्रम (अवस्सं) अवश्य (करणिज्जं) करने योग्य है

भावार्थः—हे गौतम! हमेशा इन्द्रियों के विषय को रोकने वाला और अपवित्र आत्मा को भी निर्मल बनाने वाला न्यायकारी अपने जीवन को साधक करने वाला और मोक्ष मार्ग का प्रदर्शक रूप छ अध्ययन हैं पढ़ने के जिस में ऐसा आवश्यक सूत्र साधु साध्वी तथा गृहस्थों को सदैव प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय अवश्य करना चाहिये। जिसके करने से अपने नियमों के विरुद्ध दिन रात भर में भूल से किये हुए कार्यों का प्रायश्चित हो जाता है। हे गौतम! यह आवश्यक यों है।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक् ज्ञानियों की संगति से धर्म का श्रवण होता है धर्म के श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विशेष ज्ञान या विज्ञान होता है। विज्ञान से पापों के नहीं करने का प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से संयमी जीवन की प्राप्ति होती है। संयमी जीवन से अनाश्रव अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों की रोक हो जाती है। फिर अनाश्रव से जीव तपवान बनता है। तपवान् होने से पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों के क्षय हो जाने से सावद्य क्रिया का आगमन भी बंद हो जाता है। जब सावद्य क्रिया रुक गयी तो फिर बस जीव की मुक्ति ही मुक्ति है। यों सदाचारी पुरुषों की संगति करने से उत्तरोत्तर सद्गुण ही सद्गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उसकी मुक्ति हो जाती है।

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति ।
अलं बालस्स संगेण वेरं वड्ढति अप्पणो ॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अवि) और जो कुसंग करता है (से) वह (हासमासज्ज) हास्य आदि में आसक्त हो कर (हंता) प्राणियों की हिंसा ही में (णंदीति) आनंद है ऐसा (मन्नति) मानता है। और उस (बालस्स) अज्ञानी की आत्मा का (वेरं) कर्म बंध (वड्ढति) बढ़ता है।

भावार्थः-हे गौतम ! सत्पुरुषों की संगति करने से इस जीव को गुणों की प्राप्ति होती है। और जो हास्यादि में आसक्त हो कर प्राणियों की हिंसा करके आनंद मानते हैं। ऐसे अज्ञानियों की संगति कभी मत करो। क्योंकि ऐसे दुराचारियों का संसर्ग शराब पीना माँस खाना हिंसा करना

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जो) जो मनुष्य (सव्व भूएसु) सम्पूर्ण प्राणी मात्र (तसेसु) त्रस (य) और (थावरेसु) स्थावर में (समो) समभाव रखने वाला है। (तस्स) उसके (सामाइय) सामायिक (होइ) होती है (इइ) ऐसा (केवली) वीतराग ने (भासियं) कहा है।

भावार्थः हे गौतम ! जिस मनुष्य का हरीवनस्पति आदि जीवों पर तथा हिलते फिरते प्राणी मात्र के ऊपर सम भाव है अर्थात् सुई चुभोने से अपने को कष्ट होता है। ऐसे ही कष्ट दूसरों के लिए भी समझता है। बस, उसी को सामायिक होती है ऐसा वीतरागों ने प्रतिपादन किया है। इस तरह सामायिक करने वाला मोक्ष का पथिक बन जाता है

तिण्णिसहस्सा सत्तसयाइं, तेहत्तरिं च ऊसासा ।
एस मुहुत्तो दिट्ठो, सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तिण्णिसहस्सा) तीन हजार (सत्तसयाइं) सात सौ (च) और (तेहत्तरिं) तिहत्तर (ऊसासा) उच्छ्वासों का (एस) यह (मुहुत्तो) मुहूर्त होता है। ऐसा (सव्वेहिं) सभी (अणंतनाणीहिं) अनंत ज्ञानियों के द्वारा (दिट्ठो) देखा गया है

भावार्थ-हे गौतम ! ३७७३ तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का समूह एक मुहूर्त होता है। ऐसा सभी अनंत ज्ञानियों ने कहा है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य षोडशोऽध्यायः॥

सावज्जजोगविरई,

उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।

खलियस्स निंदणा,

वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ —हे इन्द्रभूति! (सावज्जजोगविरई) सावद्य योग से जो निवृत्ति करे (उक्कित्तण) प्रभु की प्रार्थना करे (य) और (गुणवओ) गुणवान गुरुओं को (पडिवत्ति) विधि पूर्वक नमस्कार करे। (खलियस्स) अपने दोषों का (निंदणा) निरीक्षण करे (वणतिगिच्छ) व्रण के समान लगे हुए पापों का प्रायश्चित ग्रहण करता हुआ निवृत्ति रूप औषधि का सेवन करे (चेव) और (गुणधारणा) अपनी शक्ति के अनुसार त्याग रूप गुणों को धारण करे।

भावार्थः—हे गौतम! जहाँ हरीवनस्पति बीदियाँ कुथुए मकुन ही आदि जीव वगैरह न हों ऐसे एकान्त स्थान पर कुछ भी पाप नहीं करना ऐसा निश्चय करके कुछ समय के लिए अपने चित्त को स्थिर कर लेना यह आवश्यक का प्रथम अध्ययन हुआ। फिर प्रभु की प्रार्थना करना यह द्वितीय अध्ययन है। उसके बाद गुणवान् गुरुओं को विधि पूर्वक प्रेम से नमस्कार करना यह तीसरा अध्ययन है। किये हुए पापों की आलोचना करना चौथा अध्ययन और उसका प्रायश्चित ग्रहण करना पाँचवाँ अध्ययन और छठी बार यथा शक्ति त्यागों की वृद्धि करे। इस तरह षडावश्यक हमेशा दोनों समय करता रहे। यह साधु और गृहस्थों का नियम है।

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ २० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जो) जो मनुष्य (सव्व भूएसु) सम्पूर्ण प्राणी मात्र (तसेसु) त्रस (य) और (थावरेसु) स्थावर में (समो) समभाव रखने वाला है। (तस्स) उसके (सामाइय) सामायिक (होइ) होती है (इइ) ऐसा (केवली) वीतराग ने (भासियं) कहा है।

भावार्थः हे गौतम ! जिस मनुष्य का हरीवनस्पति आदि जीवों पर तथा हिलते फिरते प्राणी मात्र के ऊपर सम भाव है अथात सुई चुभोने से अपने को कष्ट होता है। ऐसे ही कष्ट दूसरों के लिए भी समझता है। बस उसी की सामायिक हाती है ऐसा वीतरागों ने प्रतिपादन किया है। इस तरह सामायिक करने वाला मोक्ष का पथिक बन जाता है

तिण्णिसहस्सा सत्तसयाइं, तेहत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो, सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥२१॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तिण्णिसहस्सा) तीन हजार (सत्तसयाइं) सात सौ (च) और (तेहत्तरिं) तिहत्तर (ऊसासा) उच्छ्वासों का (एस) यह (मुहुत्तो) मुहूर्त होता है। ऐसा (सव्वेहिं) सभी (अणंतनाणीहिं) अनंत ज्ञानियों के द्वारा (दिट्ठो) देखा गया है

भावार्थ-हे गौतम ! ३७७३ तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का समूह एक मुहूर्त होता है। ऐसा सभी अनंत ज्ञानियों ने कहा है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य षोडशोऽध्यायः॥

अध्याय सत्रहवां

—⊃○⊂○—

॥ श्री भगवानुवाच ॥

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभसक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥ १ ॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ २ ॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति ! (नेरइया) नरक (सत्तसू) सात अलग अलग (पुढवीसु) पृथ्वी में (भवे) होने से (सत्तविहा) सात प्रकार का (आहिया) कहा गया है। (रयणाभसक्कराभा) रत्न प्रभा शर्कराप्रभा (य) और (वालुयाभा) बालु प्रभा (पंकाभा) पंक प्रभा (धूमाभा) धूमप्रभा (तमा) तम प्रभ (तहा) वैसे ही (तमतमा) तमतमा प्रभा (इइ) इस प्रकार (एए) ये (नेरइया) नरक (सत्तहा) सात प्रकार के (परिकित्तिया) कहे गये हैं।

भावार्थ- हे गौतम ! एक से एक भिन्न होने से नरक को ज्ञानि जन ने सात प्रकार का कहा है। वे इस प्रकार है। (१) वैडूर्य रत्न के समान है प्रभा जिस की उसको रत्न प्रभा नाम से पहला नरक कहा है। (२) इसी तरह पाषाण पूंज कर्कश पुंज के समान है प्रभा जिसकी उसको यथा क्रम

शर्करा प्रभा (३) बालुका प्रभा (४) पंक प्रभा और (५) धूम प्रभा कहते हैं। और जहाँ अन्धकार है उसको (६) तम प्रभा कहते हैं। और जहाँ विशेष अन्धकार है उसको (७)तमतमा प्रभा सातवां नरक कहते हैं।

> जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
> पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
> ते घोररूवे तमिस्सधयारे,
> तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (जे) जो (केइ) कितनेक (जीवियट्ठी) पापमय जीवन के अर्थी (बाला) अज्ञानी लोग (रुद्दा) रौद्र (पावाइं) पाप (कम्माइं) कर्मों को (करंति) करते हैं। (ते) वे (घोर रूवे) अत्यंत भयानक रूप है जिसका और(तमिस्संधयारे) अत्यन्त अन्धकार युक्त, एवं (तिव्वाभितावे) तीव्र है ताप जिसमें ऐसे (नरए) नरक में (पडंति) आ गिरते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! इस संसार में कितनेक ऐसे जीव हैं कि वे अपने पाप मय जीवन के लिए महान् हिंसा आदि पाप कर्म करते हैं। इसीलिए वे महान् भयानक और अत्यन्त अन्धकार युक्त तीव्र सन्ताप दायक नरक में आ गिरते हैं और वर्षों तक अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते रहते हैं।

> तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
> जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
> जे लूसए होइ अदत्तहारी,
> ण सिक्खति सेय वियस्स किंचि ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ- हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (तसे) त्रस (य) और (थावर) स्थावर (पाणियो) प्राणियों की (तिव्वं) तीव्रता से (हिंसति) हिंसा करता है और (आयसुह) आत्म सुख के (पडुच्च) लिए (जे) जो मनुष्य (लूसए) प्राणियों का उपमर्दक (होइ) होता है । एवं (अदत्तहारी) नहीं दी हुई वस्तुओं का हरण करने वाला (किंचि) थोड़ा सा भी (सय विपस्स) अंगीकार करने योग्य व्रत के पालन का (ण) नहीं (सिक्खति) अभ्यास करता है । वह नरक में जा कर दुःख उठाता है ।

भावार्थ -हे गौतम ! जो मनुष्य त्रसन स्थावर करने वाले तथा स्थावर जीवों की निर्दयता पूर्वक हिंसा करता है । और जो शारीरिक पौद्गलिक सुखों के लिए जीवों का उपमर्दन करता है । एवं दूसरों की चीज हरण करने ही में अपने जीवन की सफलता समझता है । और किसी भी व्रत को अंगीकार नहीं करता वह यहाँ से मर कर नरक में जाता है । और स्व कृत कर्मों के अनुसार वहाँ नाना भाँति के दुःख उठाता है ।

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवेवि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,
तिक्खाहि सूलाइ भितावयंति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! यमराज नरक में (बालस्स) अज्ञानी के (खुरेण) छुरी से (नक्कं) नाक को (छिंदंति) काटते हैं । (उट्ठे वि) ओठों को भी और (दुवे) दोनों (कण्णे)

कानों को (वि) भी (छिंदति) छेदते हैं। तथा (विह-त्थिमित्तं) बेंत के समान लम्बाई भर (जिब्भं) जिह्वा को (विणिक्कस्स) बाहर निकाल करके (तिक्खाहिं) तीक्ष्ण (सूलाहिं) शूलों से (भितावयंति) छेदते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जो अज्ञानी जीव, हिंसा, झूठ चोरी और व्यभिचार आदि करके नरक में जा गिरते हैं। यमराज उन पापियों के कान नाक और ओठों को छुरी से छेदते हैं। और उनके मुँह में से जिह्वा को बेंत जितनी लम्बाई भर बाहर खींच कर तीक्ष्ण शूलों से छेदते है।

> ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व,
> राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
> गलंति ते सोणियपूयमंसं,
> पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (तत्थ) वहाँ नरक में (ते) वे (तिप्पमाणा) रुधिर झरते हुए (बाला) अज्ञानी (राइं-दियं) रात दिन (तलसंपुडं) पवन से प्रेरित ताड़ वृक्षों के सूखे पत्तों के शब्द के (व्व) समान (थणंति) आक्रन्दन का शब्द करते हैं। (ते) वे नारकीय जीव (पज्जोइया) अग्नि से प्रज्वलित (खारपइद्धियंगा) क्षार से जलाये हुए अंग जिससे (सोणियपूयमंसं) रुधिर रसी और मांस (गलंति) झरते रहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! नरक में गये हुए उन हिंसादि महान् आरम्भ के करने वाले नारकीय जीवों के नाक, कान आदि काटलेने से रुधिर झरता रहता है और वे रात दिन पड़े

आक्रंदन करा कराते हैं। और उस घेरे हुए अंग को अग्नि में जलाते हैं। फिर उसके ऊपर लवणादिक खार को छिड़कते हैं। जिस से और भी विशेष रुधिर पूय और मांस झरता रहता है।

> रुहिरे पुणो वच्च समुस्सिअंगे,
> भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
> पयंति णं णेरइए फुरंते,
> सजीवमच्छेव अयोकवल्ले ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (पुणो) फिर (वच्च) दुर्गन्ध वस्तु से (समुस्सिअंगे) लिपटा हुआ है अंग जिनका और (भिन्नुत्तमंगे) सिर है जिनका भेदा हुआ ऐसे नारकीय जीवों का खून निकालते हैं और (रुहिरे) उसी खून के तपे हुए कड़ाहे में उन्हें डाल कर (परिवत्तयंता) इधर उधर हिलाते हुए यमदेव (पयंति) पकाते हैं। तब (णेरइए) नारकीय जीव (अयोकवल्ले) सजीव मच्छी की तरह (फुरंते) तड़फड़ाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जिन आत्माओं ने शरीर को आराम पहुँचाने के लिए हर तरह से अनेकों प्रकार के जीवों की हिंसा की है वे आत्माएँ नरक में जा कर जब उत्पन्न होती हैं तब यमदेव दुर्गन्ध युक्त वस्तुओं से लिपटे हुए उन नारकीय आत्माओं के सिर छेदन कर उन्हीं के शरीर से खून निकाल उन्हें तप्त कड़ाहे में डालते हैं। और उसे खूब ही उबाल करके पकाते हैं। यमदूतों के ऐसा करने पर वे नारकीय आत्माएँ उस तपे हुए कड़ाहे में तप्त तवे पर डाली हुई सजीव मछली की तरह तड़फड़ाती हैं।

नो चेव ते तत्थ मसी भवंति,
ण मिज्जती तिव्वाभि वेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्केडेणं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (तत्थ) नरक में (ते) वे नारकीय जीव पकाने से (नो चेव) नहीं (मसी भवंति) भस्म होते हैं। और (तिव्वाभिवेयणाए) तीव्र वेदना से (न) नहीं (मिज्जति) मरते है। (दुक्खी) वे दुखी जीव (दुक्केडेणं) अपने किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा (तमाणुभागं) उसके फल को (अणुवेदयंता) भोगते हुए (दुक्खंति) कष्ट उठाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! नारकीय जीव उन यमदेवों के द्वारा पकाये जाने पर न तो वे भस्मीभूत ही होते हैं और न उस महान् भयानक छेदन भेदन तथा ताड़न आदि ही से वे कभी मरते हैं। किन्तु अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलों को भोगते हुए बड़े कष्ट से समय बिताते रहते हैं।

अच्छी निमिलियमेत्तं,नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं।
नरए नेरइयाणं अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (अहोनिसं) रात दिन (पच्चमाणाणं) पचते हुए (नेरइयाणं) नारकीय जीवों को (नरए) नरक में (अच्छी) आँख (निमिलियमेत्तं) टिम टिमावे इतने समय के लिए भी (सुहं) सुख (नत्थि) नहीं है। क्योंकि (दुक्खमेव) दुःख ही (अणुबद्धं) अनुबद्ध हो रहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! सदैव कष्ट उठाते हुए नारकीय जीवों को एक पल भर भी सुख नहीं है। एक दुख के बाद दूसरा दुख उनके लिए तैयार रहता है

अइसीयं अइउण्हं, अइ तण्हा अइ खुहा।
अइभयं च नरए नेरयाणं दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नरए) नरक में (नेरयाणं) नारकीय जीव (अइसीयं) अति शीत (अइउण्हं) अति उष्ण (अइतण्हा) अति तृष्णा (अइखुहा) अति भूख (च) और (अइभयं) अतिभय (दुक्खसयाइं) सैकड़ों दुख (अविस्सामं) विश्राम रहित भोगते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! नरक में रहे हुए जीवों का अत्यन्त ठण्ड उष्ण भूख तृष्णा और भय आदि सैकड़ों दुख एक के बाद एक लगातार रूप से कृत कर्मों के फल रूप में भोगने पड़ते हैं।

जं सारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।
एगंत दुक्खं भवमज्जणित्ता,
वेदेंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (कम्मं) कर्म (सारिसं) जैसे (पुव्वं) पूर्व भव में जीव ने (अकासि) किये हैं (तमेव) वैसे ही, उसके फल (संपराए) संसार में (आगच्छति) प्राप्त होते हैं। (एगंतदुक्खं) केवल दुख है जिसमें ऐसे नारकीय (भवं) जन्म को (अज्जणित्ता)

उपार्जन करके (दुरुही) वे दुखी जीव (तं) उस (अनंत दुःख) अपार दुख को (वेदंति) भोगते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! इस आत्मा ने जैसे पुण्य पाप किये हैं, उसी के अनुसार जन्म जन्मान्तर रूप संसार में उसे सुख दुःख मिलते रहते हैं। यदि उसने विशेष पाप किये हैं तो जहाँ घोर कष्ट होते हैं ऐसे नारकीय जन्म उपार्जन करके वह उस नरक में जा पड़ती है। और अनंत दुखों को सहती रहती है।

> जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
> समाययंती अमइं गहाय।
> पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
> वेराणुबद्धा नरयं उविंति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जे) जो (मणूसा) मनुष्य (अमइं) कुमति को (गहाय) ग्रहण करके (पावकम्मेहिं) पाप कर्म के द्वारा (धणं) धन को (समाययंती) उपार्जन करते हैं (ते) वे (नरे) मनुष्य (पासपयट्टिए) कुटुम्बियों के मोह में फँसे हुए होते हैं वे (पहाय) उन्हें छोड़ कर (वेराणुबद्धा) पाप के अनुबंध करने वाले। (नरयं) नरक में जा कर (उविंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ-हे गौतम! जो मनुष्य पाप बुद्धि से कुटुम्बियों के भरण पोषण रूप मोह-पाश में फँसता हुआ, गरीब लोगों को खा कर बड़े अन्याय से धन पैदा करता है वह मनुष्य धन और कुटुम्ब को यहीं छोड़ कर और जो पाप किये हैं उनको अपना साथी बना नरक में जा उत्पन्न होता है।

एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्व लोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहेउ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (एगंतदिट्ठी) केवल सम्यक्त्व की है दृष्टि जिन की और(अपरिग्गहेउ)ममत्व भाव रहित ऐसे जो (धीरे) बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे (एयाणि) इन (णरगाणि) नरक के दुखों को (सोच्चा) सुन कर (सव्व लोए) सम्पूर्ण लोक में (किंचण) किसी भी प्रकार के जीवों की (न) नहीं (हिंसए) हिंसा करते (लोयस्स) कर्म रूप लोक को (बुज्झिज्ज) जान कर (वसं) उसकी आधीनता में (न) नहीं (गच्छे) जावे ।

भावार्थ—हे गौतम ! जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है और ममत्व से विमुख हो रहा है। ऐसा बुद्धिमान् तो इस प्रकार के नारकीय दुखों को एक मात्र सुन कर किसी भी प्रकार की कोई हिंसा नहीं करेगा। यही नहीं वह क्रोध मान माया लोभ तथा अहंकार रूप लोक के स्वरूप को समझ कर और उसके आधीन हो कर कभी भी कर्मों के बन्धनों को प्राप्त न करेगा। वह स्वर्ग में जाकर देवता होगा। देवता चार प्रकार के हैं। वे यों हैं:—

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमेज्जवाणमन्तर, जोइस वेमाणिया तहा ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति !(देवा) देवता (चउव्विहा)

चार प्रकार के (वुत्ता) कहे हैं। (ते) वे (मे) मेरे द्वारा (कित्तयओ) कहे हुए तू (सुण) श्रवण कर (भोमेज्जवाणमंतर) भवनपति वाणव्यन्तर (तहा) तथा (जोइस वेमाणिया) ज्योतिषी और वैमानिक देव।

भावार्थ—हे गौतम ! देव चार प्रकार के होते हैं। उन्हें तू सुन। (१) भवनपति (२) वाणव्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भवनपति इस पृथ्वी से १०० योजन नीचे की ओर रहते हैं। वाणव्यन्तर १० योजन नीचे रहते हैं। ज्योतिषी देव ७९० योजन इस पृथ्वी से ऊपर की ओर रहते हैं। परन्तु वैमानिक देव तो इन ज्योतिषी देवों से भी असंख्य योजन ऊपर रहते हैं।

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (भवणवासी) भवनपति देव (दसहा) दस प्रकार के होते हैं। और (वणचारिणो) वाणव्यन्तर (अट्ठहा) आठ प्रकार के हैं। (जोइसिया) ज्योतिषी (पंचविहा) पाँच प्रकार के होते हैं। (तहा) वैसे ही (वेमाणिया) वैमानिक (दुविहा) दो प्रकार के हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! भवनपति देव दस प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं और ज्योतिषी पाँच प्रकार के हैं। वैसे ही वैमानिक देव भी दो प्रकार के हैं। अब भवनपति के दस भेद कहते हैं।

असुरा नाग सुवण्णा, विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि दिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (असुरा) असुर कुमार (नागसुवण्णा) नाग कुमार, सुवर्ण कुमार (विज्जू) विद्युत कुमार (अग्गी) अग्निकुमार (दीवोदहि) द्वीपकुमार उदधि कुमार (दिसा) दिक्कुमार (वाया) वायुकुमार तथा (थणिया) स्तनित कुमार । इस प्रकार (भवणवासिणो) भवनवासी देव (वियाहिया) कहे गये हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! असुरकुमार, नागकुमार सुवर्ण कुमार विद्युत कुमार अग्निकुमार द्वीपकुमार उदधिकुमार दिक्कुमार पवनकुमार और स्तनितकुमार यों ज्ञानियों द्वारा दश प्रकार के भवनपति देव कहे गए हैं । अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव यों है ।

पिसाय भूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
महोरगाय गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (वाणमंतरा) वाणव्यन्तर देव (अट्ठविहा) आठ प्रकार के होते हैं । जैसे (पिसाय) पिशाच (भूय) भूत (जक्खा) यक्ष (य) और (रक्खसा) राक्षस (य) और (किन्नरा) किंनर (किंपुरिसा) किंपुरुष (महोरगा) महोरग (य) और (गंधव्वा) गंधर्व ।

भावार्थ—हे गौतम ! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं । जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किंनर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व । ज्योतिषी देवों के पाँच भेद यों है—

चन्दा सूराय नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
ठिया विचारिणो चेव, पचहा जोइसालया ॥१८॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जोइसालया) ज्योतिषी देव (पंचहा) पाँच प्रकार के है। (चन्दा) चन्द्र (सूरा) सूर्य (य) और (नक्खत्ता) नक्षत्र (गहा) ग्रह (तहा) तथा (तारागणा) तारागण। जो (ठिया) अढ़ीद्वीप के बाहर स्थिर हैं। (चेव) और अढ़ीद्वीप के भीतर (विचारियो) चलते फिरते हैं।

भावार्थः–हे गौतम ! ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के है। (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारागण। ये देव अढ़ीद्वीप के बाहर तो स्थिर रहने वाले हैं और अढ़ीद्वीप के भीतर चलते फिरते हैं। वैमानिक देवों के भेद यों हैं —

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा कप्पाईया तहेव य ॥१९॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (देवा) देव (वेमाणियाउ) वैमानिक हैं। (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं। एक तो (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (य) और (तहेव य) वैसे ही (कप्पाईया) कल्पातीत (बोधव्वा) जानना।

भावार्थः–हे गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। एक तो कल्पोत्पन्न और दूसरे कल्पातीत। कल्पोत्पन्न से ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते हैं। और जो कल्पोत्पन्न है वे बारह प्रकार के हैं। वे यों हैं—

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (असुरा) असुर कुमार (नागसुवण्णा) नाग कुमार, सुवर्ण कुमार (विज्जू) विद्युत कुमार (अग्गी) अग्निकुमार (दीवोदहि) द्वीपकुमार उदधि कुमार (दिसा) दिक्कुमार (वाया) वायुकुमार तथा (थणिया) स्तनित कुमार। इस प्रकार (भवणवासिणो) भवनवासी देव (वियाहिया) कहे गये हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! असुरकुमार नागकुमार सुवर्ण कुमार विद्युत कुमार अग्निकुमार द्वीपकुमार उदधिकुमार दिक्कुमार पवनकुमार और स्तनितकुमार यों जातियों द्वारा दस प्रकार के भवनपति देव कहे गये हैं। अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव यों हैं।

पिसाय भूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगाय गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (वाणमंतरा) वाणव्यन्तर देव (अट्ठविहा) आठ प्रकार के होते हैं। जैसे (पिसाय) पिशाच (भूय) भूत (जक्खा) यक्ष (य) और (रक्खसा) राक्षस (य) और (किन्नरा) किन्नर (किंपुरिसा) किंपुरुष (महोरगा) महोरग (य) और (गंधव्वा) गंधर्व।

भावार्थ—हे गौतम ! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं। जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व। ज्योतिषी देवों के पाँच भेद यों हैं—

चन्दा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
ठिया विचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥१८॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति ! (जोइसालया) ज्योतिषी देव (पंचहा) पाँच प्रकार के है । (चन्दा) चन्द्र (सूरा) सूर्य (य) और (नक्खत्ता) नक्षत्र (गहा) ग्रह (तहा) तथा (तारागणा) तारागण । जो (ठिया) अढ़ीद्वीप के बाहर स्थिर हैं । (चेव) और अढ़ीद्वीप के भीतर (विचारिणो) चलते फिरते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के है । (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारागण । ये देव अढ़ीद्वीप के बाहर तो स्थिर रहने वाले हैं और अढ़ीद्वीप के भीतर चलते फिरते हैं । वैमानिक देवों के भेद यों हैं—

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥१६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (देवा) देव (वैमाणियाउ) वैमानिक हैं । (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं । एक तो (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (य) और (तहेव य) वैसे ही (कप्पाईया) कल्पातीत (बोधव्वा) जानना ।

भावार्थः-हे गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। एक तो कल्पोत्पन्न और दूसरे कल्पातीत। कल्पोत्पन्न से ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते हैं । और जो कल्पोत्पन्न है वे बारह प्रकार के हैं । वे यों हैं—

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (असुरा) असुर कुमार (नागसुवण्णा) नाग कुमार सुवर्ण कुमार (विज्जू) विद्युत कुमार (अग्गी) अग्निकुमार (दीवोदहि) द्वीपकुमार उदधि कुमार (दिसा) दिक्कुमार (वाया) वायुकुमार तथा (थणिया) स्तनित कुमार । इस प्रकार (भवणवासिणो) भवनवासी देव (वियाहिया) कहे गये हैं ।

भावार्थ—हे गौतम ! असुरकुमार नागकुमार सुवर्ण कुमार विद्युत कुमार अग्निकुमार द्वीपकुमार उदधिकुमार दिक्कुमार पवनकुमार और स्तनितकुमार यों ज्ञानियों द्वारा दश प्रकार के भवनपति देव कहे गये हैं । अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर कहते हैं ।

पिसाय भूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
महोरगाय गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (वाणमंतरा) वाणव्यन्तर देव (अट्ठविहा) आठ प्रकार के होते हैं । जैसे (पिसाय) पिशाच (भूय) भूत (जक्खा) यक्ष (य) और (रक्खसा) राक्षस (य) और (किन्नरा) किन्नर (किंपुरिसा) किंपुरुष (महोरगा) महोरग (य) और (गंधव्वा) गंधर्व ।

भावार्थ—हे गौतम ! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं । जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व । ज्योतिषी देवों के पाँच भेद यों है—

कल्पातीत देव हैं, (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं। (गेविज्जा) ग्रीवेक(चेव) और (अणुत्तरा) अनुत्तर (तहिं) उस में (गेविज्जा) ग्रीवेक (नवविहा) नव प्रकार के हैं।

भावार्थः-हे गौतम! कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं। एक तो ग्रीवेक और दूसरे अणुत्तर वैमानिक। जिन में भी ग्रीवेक नौ प्रकार के और अणुत्तर पाँच प्रकार के हैं।

हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव हेट्ठिमा मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव, मज्झिमा हेट्ठिमा तहा॥२३॥
मज्झिमा मज्झिमा चेव, मज्झिमा उवरिमा तहा।
उवरिमा हेट्ठिमा चेव, उवरिमा मज्झिमा तहा॥२४॥
उवरिमा उवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया॥ २५॥
सव्वत्थसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया एए, ऽणेगहा एवमायओ॥ २६॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (हेट्ठिमा हेट्ठिमा) नीचे की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (हेट्ठिमा मज्झिमा) नीचे की त्रिक का बीच वाला। (तहा) तथा (हेट्ठिमाउवरिमा) नीचे की त्रिक का ऊपर वाला। (चेव) और (मज्झिमा हेट्ठिमा) बीच की त्रिक का नीचेवाला (तहा) तथा (मज्झिमा मज्झिमा) बीच की त्रिक का बीचवाला (चेव) और (मज्झिमा उवरिमा) बीच की त्रिक का ऊपर वाला (तहा) तथा (उवरिमाहेट्ठिमा) ऊपर की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (उवरिमामज्झिमा) ऊपर की त्रिक का बीच वाला (तहा)

कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिन्दा, बम्भलोगा य लंतगा ॥ २० ॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न देव (बारसहा) बारह प्रकार के हैं (सोहम्मीसाणगा) सुधर्म ईशान (तहा) तथा (सणंकुमार) सनत्कुमार (माहिन्दा) महेन्द्र (बम्भलोगा) ब्रह्म (य) और (लंतगा) लांतक (महासुक्का) महाशुक्र (सहस्सारा) सहस्रार (आणया) आणत (पाणया) प्राणत (तहा) तथा (आरणा) आरण (चेव) और (अच्चुया) अच्युत देव लोक (इइ) ये हैं। और इन्हीं के नामों पर से (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (सुरा) देवों के नाम भी हैं।

भावार्थः— गौतम ! कल्पोत्पन्न देवों के बारह भेद हैं और वे यों हैं—(१) सुधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) महेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लांतक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत ये देवलोक हैं। इन स्वर्गों के नामों पर से ही इन में रहने वाले देवों के भी नाम हैं। कल्पातीत देवों के नाम यों हैं—

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे ! इन्द्रभूति ! (जे) जो (कप्पाईया)

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जेसिं) जिन्होंने (विउला) महान् (सिक्खा) शिक्षा का सेवन किया है। (ते) वे (सीलवंता) सदाचारी (सविसेसा) उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करने वाले (अदीणा) अदीन-वृत्तिवाले (मूलियं)

दूसरे ने विचार किया कि व्यापार करके मूल पूंजी तो ज्यों की त्यों कायम रखनी चाहिए। परन्तु जो लाभ हो उसे एशो आराम में खर्च कर देना चाहिए। और तीसरे ने विचार किया, कि मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर घर चलना चाहिए। इसी तरह वे तीनों नियत समय पर घर आये। एक मूल पूंजी का खो कर, दूसरा मूल पूंजी लेकर, और तीसरा मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर घर आया। इसी तरह इन आत्माओं को मनुष्य-भव रूप मूल धन प्राप्त हुआ है। जो आत्माएँ मनुष्य भव रूप मूल धन की उपेक्षा करके खूब पापाचरण करती हैं। वे मनुष्य भव को खो कर नरक और तिर्यंच योनियों में जाकर जन्म धारण करती हैं। और जो आत्माएँ पाप करने से पीछे हटती हैं, वे अपनी मूल पूंजी रूप मनुष्य जन्म ही को प्राप्त होती हैं। परन्तु जो आत्मा अपना वश चलते सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, ममत्व आदि का परित्याग करके अपने त्याग धर्म में वृद्धि करती जाती है। वे मनुष्य-भव रूपी मूल पूंजी से भी बढ़ कर देव-योनि को प्राप्त होती हैं। अर्थात् स्वर्ग में जाकर वे आत्माएँ जन्म धारण करती हैं और वहाँ नाना भाँति के सुखों को भोगती हैं।

तथा (उवरिमा उवरिमा) ऊपर की त्रिक का ऊपरवाला (इइ) इस प्रकार नौ भेदों से (गेविज्जगा) ग्रीवेक के (सुरा) देवता हैं। (विजया) विजय (वेजयंता) वैजयंत (य) और (जयंता) जयंत (अपराजिया) अपराजित (चेव) और (सव्वत्थसिद्धगा) सर्वार्थसिद्ध ये (पंचहा) पाँच प्रकार के (अणुत्तरा) अनुत्तर विमान के (सुरा) देवता कहे गये हैं। (इइ) इस प्रकार (एए) ये मुख्य मुख्य (वेमाणिया) वैमानिक देवों के भेद कहे गये हैं। और प्रभेद तो (एवमायओ) ये आदि में (अणेगहा) अनेक प्रकार के हैं।

भावार्थ-हे गौतम! बारह देवलोक से ऊपर नौ ग्रीवेक जो हैं उनके नाम यों हैं। (१) भद्दे (२) सुभद्दे (३) सुजाये (४) सुमाणसे (५) सुदर्शने (६) प्रियदर्शने (७) अमोहे (८) सुपडिभद्दे और (९) यशोधर और पांच अनुत्तर विमान यों हैं—(१) विजय (२) वजयंत (३) जयंत (४) अपराजित (५) सर्वार्थसिद्ध ये सब वैमानिक देवों के भेद बताए गए हैं।

जासिं तु विउला सिक्खा[1], मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवंता सविसेसा[1] अदीणा जंति देवयं ॥२७॥

(१) किसी एक साहूकार ने अपने तीन लड़कों को एक एक हजार रुपया दे कर व्यापार करने के लिए इतर देश को भेजा। उन में से एक ने तो यह विचार किया कि अपने घर में खूब धन है। फिजूल ही व्यापार का कौन कष्ट उठावे, अतः दुःखी आराम करके उसने मूल पूंजी का भी खा दिया।

एक देदीप्यमान शरीरों को धारण करती है। और वहाँ दश हजार वर्ष से लेकर कई सागरोपम तक रहती है। वहाँ ऐसी आत्माएँ देव लोक के सुखों में ऐसी लीन हो जाती है, कि वहाँ से अब मानो वे कभी मरेंगी ही नहीं इस तरह से वे मान बैठती हैं।

जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥३०॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (कुसग्गे) घास के अग्रभाग पर की (उदगं) जल की बूँद का (समुद्देण) समुद्र के (समं) साथ (मिणे) मिलान किया जाय तो क्या वह उसके बराबर हो सकती है ! नहीं (एवं) ऐसे ही (माणुस्सगा) मनुष्य संबंधी (कामा) काम भोगों के (अंतिए) समीप (देवकामाणं) देव संबंधी काम भोगों को समझना चाहिए।

भावार्थः--हे गौतम ! जिस प्रकार घास के अग्रभाग पर की जल की बूँद में और समुद्र की जलराशि में भारी अन्तर है। अर्थात् कहाँ तो पानी का बूँद और कहाँ समुद्र की जल राशि ! इसी प्रकार मनुष्य संबंधी काम भोगों के सामने देव संबंधी काम भोगों को समझना चाहिए।
तत्थ ठिच्चा जहा ठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायइ ॥[1]३१॥

(१) एक वचन होने से इसका आशय यह है, कि समृद्धि के दश अंग अलग अलग कहे हुए हैं। उनमें से देव लोक से चव

हो तथा उन की सेवा की जो उपेक्षा करे, वह अविनीत है या दुष्ट है।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेविज्ज पंडिए ।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (पंडिए) पंडित वही है, जो (अणुसासिओ) शिक्षा देने पर (न) नहीं (कुप्पिज्जा) क्रोध करे, और (खंतिं) क्षमा को (सेविज्ज) सेवन करता रहे । (खुड्डेहिं) बाल अज्ञानियों के (सह) साथ (संसग्गिं) संगम (हासं) हास्य (च) और (कीडं) क्रीड़ा को (वज्जए) त्यागे ।

भावार्थ—हे गौतम ! पंडित वही है जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे । और क्षमा को अपना अंग बनावे । तथा दुराचारी और अज्ञानियों के साथ कभी भी हँसी ठट्ठा न करे ऐसा ज्ञानियों ने कहा है ।

आसणगओ न पुच्छेज्जा, णेव सेज्जागओ कयाइवि ।
आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति (आसणगओ) आसन पर बैठे हुए कोई भी प्रश्न (न) नहीं (पुच्छेज्जा) पूछना गुरुजनों को और (कयाइवि) कदापि (सेज्जागओ) शैया पर बैठे हुए भी (न) नहीं पूछना हाँ (आगम्मुक्कुडुओ) गुरुजनों के पास आकर उकडू आसन से (संतो) बैठे (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (पुच्छेज्जा) पूछना चाहिए ।

अध्याय अठारहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आणाणिद्देसकरे) जो गुरु जन एवं बड़े बूढ़ों की न्याययुक्त बातों का पालन करने वाला हो और (गुरूणं) बड़े बूढ़े गुरु जनों के (उववायकारए) समीप रहने वाला हो और उन की (इंगियागारसंपन्ने) भृकुटी आदि चेष्टाएं एवं आकार को जानने में सम्पन्न हो (से) वही (विणीए) विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थः हे गौतम ! मोक्ष के साधन रूप विनय मार्ग को धारण करने वाला विनीत है जो कि अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों तथा आप्त पुरुषों की आज्ञा का यथायोग्य रूप से पालन करता हो उन की सेवा में रह कर अपना अहोभाग्य समझता हो और उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति सूचक भृकुटी आदि चेष्टाओं तथा मुखाकृति को जानने में जो कुशल हो वह विनीत है। और इस के विपरीत जो अपना बर्ताव रखने वाला हो अर्थात् बड़े बूढ़े गुरु जनों की आज्ञा का उल्लंघन करता

हो तथा उन की सेवा की जो उपेक्षा करे, वह अविनीत है या दुष्ट है।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥ २ ॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति ! (पंडिए) पंडित वही है, जो (अणुसासिओ) शिक्षा देने पर (न) नहीं (कुप्पिज्जा) क्रोध करे, और (खंतिं) क्षमा को (सेविज्ज) सेवन करता रहे। (खुड्डेहिं) बाल अज्ञानियों के (सह) साथ (संसग्गिं) संसर्ग (हासं) हास्य (च) और (कीडं) क्रीडा को (वज्जए) त्यागे।

भावार्थ–हे गौतम ! पंडित वही है जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे। और क्षमा को अपना अंग बनाले। तथा दुराचारी और अज्ञानियों के साथ कभी भी हँसी ठट्ठा न करे ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

आसणगओ ण पुच्छिज्जा, णेव सेज्जागओ कयाइवि।
आगम्मुक्कुडुआ संतो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति (आसणगओ) आसन पर बैठे हुए कोई भी प्रश्न (ण) नहीं (पुच्छेज्जा) पूछना गुरुजनों को और (कयाइवि) कदापि (सेज्जागओ) शैया पर बैठे हुए भी (ण) नहीं पूछना हाँ (आगम्मुक्कुडुओ) गुरुजनों के पास आकर उकडू आसन से (संतो) बैठे (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (पुच्छेज्जा) पूछना चाहिए।

अध्याय अठारहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आणाणिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥ १ ॥

अन्वयार्थ :—हे इन्द्रभूति ! (आणाणिद्देसकरे) जो गुरु जन एवं बड़े बूढ़ों की न्यायमुक्त बातों का पालन करने वाला हो और (गुरूणं) बड़ बूढ़े गुरु जनों के (उववायकारए) समीप रहने वाला हो, और उन की (इंगियागारसंपन्ने) कुचेष्टा भृकुटी आदि चेष्टाएँ एवं आकार को जानने में सम्पन्न हो (से) वही (विणीए) विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) कहा है।

भावार्थ : हे गौतम ! मोक्ष के साधन रूप विनय भावों को धारण करने वाला विनीत है जो कि अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों तथा आप्त पुरुषों की आज्ञा का यथायोग्य रूप से पालन करता हो उन की सेवा में रह कर अपना अहोभाग्य समझता हो और उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति पूर्वक भृकुटी आदि चेष्टाओं तथा मुखाकृति को जानने में जो कुशल हो वह विनीत है। और इस के विपरीत जो अपना बर्ताव रखने वाला हो अर्थात् बड़े बूढ़े गुरु जनों की आज्ञा का उल्लंघन करता

हो तथा उन की सेवा की जो उपेक्षा करे वह अविनीत है या ददृ है।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (पंडिए) पंडित वही है, जो (अणुसासिओ) शिक्षा देने पर (न) नहीं (कुप्पिज्जा) क्रोध करे, और (खंतिं) क्षमा को (सेविज्ज) सेवन करता रहे। (खुड्डेहिं) पास अज्ञानियों के (सह) साथ (संसग्गिं) संसर्ग (हासं) हास्य (च) और (कीडं) क्रीड़ा को (वज्जए) त्यागे।

भावार्थ—हे गौतम! पंडित वही है जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे। और क्षमा को अपना अंग बनावे। तथा दुराचारी और अज्ञानियों के साथ कभी भी हँसी ठट्ठा न करे ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

आसणगओ ण पुच्छिज्जा, णेव सेज्जागओ कयाइवि।
आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति (आसणगओ) आसन पर बैठे हुए कोई भी प्रश्न (ण) नहीं (पुच्छेज्जा) पूछना गुरुजनों को और (कयाइवि) कदापि (सेज्जागओ) शैया पर बैठे हुए भी (ण) नहीं पूछना, हाँ (आगम्मुक्कुडुओ) गुरुजनों के पास आकर उकडू आसन से (संतो) बैठे (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (पुच्छिज्जा) पूछना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों को कोई भी बात पूछना हो तो आसन पर बैठे हुए या शयन करने के बिछौने पर बैठे ही बैठे कभी नहीं पूछना चाहिए। क्योंकि इस तरह पूछने से गुरु जनों का अपमान होता है। और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होती है। अतः उनके पास आ कर उकडू आसन [Sitting on kneels] से बैठ कर हाथ जोड़ता हुआ प्रत्येक बात को गुरु से पूछे।

जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बुद्धा) बड़े बूढ़े गुरु जन (जं) जो शिक्षा दें उस समय यों विचार करना चाहिए कि (मे) मुझे (सीएण) शीतल (वा) अथवा (फरुसेण) कठोर शब्दों से (अणुसासंति) शिक्षा देते हैं। यह (मम) मेरा (लाभो) लाभ है (त्ति) ऐसा (पेहाए) समझ कर षट् कायों की रक्षा के लिए (पयओ) प्रयत्न करनेवाला महानुभाव (तं) उस बात को (पडिस्सुणे) श्रवण करे

भावार्थः—हे गौतम ! बड़े बूढ़े व गुरु जन मधुर या कठोर शब्दों में शिक्षा दें उस समय अपने का यों विचार करना चाहिए कि जो यह शिक्षा दी जा रही है वह मेरे लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए है। अतः उन की अमूल्य शिक्षाओं को प्रसन्न चित्त से श्रवण करते हुए उन महानुभाव को अपना महोपकारी समझना चाहिए।

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! (विगयभया) चला गया है भय जिससे ऐसा (बुद्धा) तत्त्वज्ञ विनयशील अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों की (फरुसं) कठोर (अणुसासणं) शिक्षा को (पि) भी (हियं) हितकारी समझता है और (मूढाणं) मूर्ख अविनीत (खंतिसोहिकरं) क्षमा उत्पन्न करने वाला, तथा आत्म शुद्धि करने वाला ऐसा जो (पयं) ज्ञान रूप पद (तं) उसको श्रवण कर (वेसं) द्वेष युक्त (होइ) हो जाता है।

भावार्थ—हे गौतम! जिस को किसी प्रकार की चिन्ता भय नहीं है, ऐसा जो तत्त्वज्ञ विनयवान् महानुभाव अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों की अमूल्य शिक्षाओं को कठोर शब्दों में भी श्रवण करके उन्हें अपना परम हितकारी समझता है। और जो अविनीत मूर्ख होते हैं वे उनकी हितकारी और अक्षयसुखद शिक्षाओं को सुन कर द्वेषानल में जल मरते हैं।

अभिक्खणं कोही हवइ, पबंधं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥ ६ ॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं ॥ ७ ॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (अभिक्खणं) बार बार (कोही) क्रोध युक्त (हवइ) होता हो (च) और सदैव (पबंधं) कलहोत्पादक ही कथा (पकुव्वई) करता हो (मेत्तिज्जमाणो) मैत्रीभाव को (वमइ) वमन करे

(सुयं) श्रुत ज्ञान को (लद्धूण) पाकर (मज्जइ) मद करे (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े व गुरु जनों की न कुछ भूल को भी निंदा रूप में करता (अवि) ही रहे (मित्तेसु) मित्रों पर (अवि) भी (कुप्पई) कोप करता रहे (सुप्पियस्स) सुप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (अवि) भी (रह) परोक्ष रूप में उसके (पावगं) पाप दोष (भासइ) कहता हो। (पइण्णवाई) संबंध रहित बहुत बोलने वाला हो (दुहिले) द्रोही हो (थद्धे) घमंडी हो। (लुद्धे) रसादिक स्वाद में लिप्त हो (अणिग्गहे) अनिग्रहित इन्द्रियों वाला हो (असंविभागी) किसी को कुछ नहीं देता हो (अवियत्ते) पूछने पर भी अस्पष्ट बोलता हो वह (अविणीए) अविनीत है। (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! जो सदैव क्रोध करता है जो कलहोत्पादक बातें ही नयी नयी घड़ कर सदा कहता रहता है जिस का हृदय मैत्री भावों से विहीन हो। ज्ञान सम्पादन करके जो उस के गर्व में चूर चूर रहता हो अपने बड़े बूढ़े व गुरु जनों की न कुछ सी भूलों को भी भयंकर रूप जो देता हो अपने प्रगाढ़ मित्रों पर भी क्रोध करने से जो कभी न चूकता हो अभिन्न मित्रों का भी जो उनके परोक्ष में दोष प्रकट करता रहता हो बातचीत या कथा का संबंध नहीं मिलने पर भी जो वाचाल की भाँति बहुत अधिक बोलता है प्रत्येक के साथ द्रोह किये बिना जिसे चैन ही नहीं पड़ता हो गर्व करने में भी जो कुछ और कसर नहीं रखता हो रसादिक पदार्थों के स्वाद में सदैव आसक्त जो रहता हो इन्द्रियों के द्वारा जो पराजित होता रहता हो जो स्वयं पेटू हो और दूसरों को एक कौर भी कभी नहीं देता है और पूछने पर भी जो बात अनजान की ही

भाँति बोलता हो, ऐसा जो पुरुष है, वह फिर चाहे जिस जाति, कुल व कौम का क्यों न हो अविनीत है अर्थात् अविनय शील है। उसकी इस लोक में तो प्रशंसा होगी ही क्यों ? परन्तु परलोक में भी वह अधोगामी बनेगा।

अह पण्णरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (पण्णरसहिं) पन्द्रह (ठाणेहिं) स्थानों करके युक्त हो वह (सुविणीए) अच्छा विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) ज्ञानि जन कहते हैं। और वे पन्द्रह स्थान यों ह। (नीयावित्ती) वह बूढ़े व गुरुजनों के आसन से नीचे बैठने वाला हो (अचवले) चपलता रहित हो (अमाई) निष्कपट हो (अकुऊहले) कुतूहल रहित हो।

भावार्थः—हे गौतम ! पन्द्रह कारणों से मनुष्य विनय शील या विनीत कहलाता है—वे पन्द्रह कारण यों ह (१) अपने बड़े बूढ़े व गुरु जनों के साथ नम्रता से जो बोलता हो, (२) उनसे नीचे आसन पर बैठता हो पूछने पर हाथ जोड़ कर बोलता हो; बोलने चलने बैठने आदि में जो चपलता न दिखाता हो (३) सदैव निष्कपट भाव से जो बर्ताव करता हो (४) खेल तमाशे आदि कौतुकों के देखने में अपनी अनिच्छा दिखाता हो

अप्पं चाऽहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वइ।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जइ ॥ १० ॥

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥११॥
कलहडमर वज्जए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिम पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥१२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अहिक्खिवई) बड़े बूढ़े तथा गुरु जन आदि किसी का भी जो तिरस्कार न करता हो (य) और (पबंधं) कलहोत्पादक कथा(न) नहीं(कुव्वई) करता हो (मेत्तिज्जमाणो) मित्रता को (भयई) निभाता हो (सुयं) श्रुत ज्ञान को(लद्धुं) पा कर के जो (न) नहीं (मज्जई) मद करता हो (य) और (न) नहीं करता हो (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुचेष्टा रूप को (य) और (मित्तेसु) मित्रों पर (न) नहीं (कुप्पई) क्रोध करता हो (अप्पियस्स) अप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (रहे) परोक्ष में (अवि) भी उसके (कल्लाणं) गुणानुवाद (भासई) बोलता हो (कलहडमर वज्जए) वाग्युद्ध और काया युद्ध दोनों से अलग रहता हो (बुद्धे) वह तत्त्वज्ञ फिर (अभिजाइए) कुलीनता के गुणों से युक्त हो (हिरिमं) लज्जावान् हो (पडिसंलीणे) इन्द्रियों पर विजय पाया हुआ हो वह (सुविणीए) विनीत है । (त्ति) ऐसा ज्ञानी जन (वुच्चई) कहते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! फिर तत्त्वज्ञ महानुभाव (४) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों का कभी भी तिरस्कार नहीं करता हो (६)लड़ाई झगड़े की बातें न करता हो(७)उपकार करनेवाले मित्र के साथ बने वहां तक मौका उपकार ही

करता हो यदि उपकार करने की शक्ति न हो तो अपकार से तो सदा सर्वदा दूर ही रहता हो (८) ज्ञान पा कर घमण्ड न करता हो (९) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुछेक भूल को अपकार रूप न देता हो (१०) अपने मित्र पर कभी भी क्रोध न करता हो (११) परोक्ष में भी अप्रिय मित्र का अवगुणों के बजाय गुणगान ही करता हो (१२) वचन युद्ध और काया युद्ध दोनों से जो कतई दूर रहता हो (१३) कुलीनता के गुणों से सम्पन्न हो (१४) लज्जावान् अर्थात् अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों के समक्ष मर्यो में शरम रखने वाला हो (१५) और जिसने इन्द्रियों पर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त कर लिया हो वही विनीत है। ऐसे ही की इस लोक में प्रशंसा होती है। और परलोक में उन्हें शुभ गति मिलती है।

जहाहिअग्गी जलणं नमसे,
नाणा हुई मंत पयाभिसत्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आहिअग्गी) अग्नि होमी ब्राह्मण (जलणं) अग्नि को (नमसे) नमस्कार करते हैं। तथा (नाणाहुईमंतपयाभिसत्तं) नाना प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति और मंत्र पदों से उसे सिंचित करते हैं (एवायरियं) इसी तरह से बड़े बूढ़ व गुरु जन और आचार्य की (अणंतनाणो वगओसंतो) अनंत ज्ञान युक्त होने पर (वि) भी (उवचिट्ठइज्जा) सेवा करनी ही चाहिए।

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥११॥
कलहडमर वज्जए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अहिक्खिवई) बड़े बूढ़े तथा गुरु जन आदि किसी का भी जो तिरस्कार न करता हो (य) और (पबंधं) कलहोत्पादक कथा (न) नहीं (कुव्वई) करता हो (मेत्तिज्जमाणो) मित्रता को (भयई) निभाता हो (सुयं) श्रुत ज्ञान को (लद्धुं) पा कर के जो (न) नहीं (मज्जई) मद करता हो (य) और (न) नहीं करता हो (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुचेष्टा भूल को (य) और (मित्तेसु) मित्रों पर (न) नहीं (कुप्पई) क्रोध करता हो (अप्पियस्स) अप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (रहे) परोक्ष में (अवि) भी उसके (कल्लाण) गुणानुवाद (भासई) बोलता हो (कलहडमर वज्जए) वाग्युद्ध और काया युद्ध दोनों से अलग रहता हो (बुद्धे) वह तत्वज्ञ फिर (अभिजाइए) कुलीनता के गुणों से युक्त हो (हिरिमं) लज्जावान् हो (पडिसंलीणे) इन्द्रियों पर विजय पाया हुआ हो वह (सुविणीए) विनीत है। (त्ति) ऐसा ज्ञानी जन (वुच्चई) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! फिर तत्वज्ञ महानुभाव (१) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों का कभी भी तिरस्कार नहीं करता हो (२) दूसरे बिगाड़ की बातें न करता हो (३) उपकार करनेवाले मित्र के साथ बने वहाँ तक भी या उपकार ही

प्रीति कारक शब्दों के द्वारा पुनः उन्हें प्रसन्न चित्त करे हाथ जोड़ जोड़ कर उनके क्रोध को शान्त करे और यों कह कर कि इस प्रकार की अविनयता या अपराध आगे से मैं कभी नहीं करूंगा। अपने अपराध की क्षमा याचना करे।

णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ ।
हवई किच्चाण सरणं, भूयाणं जगई जहा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! इस प्रकार विनय की महत्वता को (णच्चा) जान कर (मेहावी) बुद्धिमान् मनुष्य(णमइ) विनयशील हो जिस से (से) वह (लोए) इस लोक में (कित्ती) कीर्ति का पात्र (जायइ) होता है (जहा) जैसे (भूयाणं) प्राणियों को (जगई) पृथ्वी आश्रय भूत है ऐसे ही विनीत महानुभाव(किच्चाणं)पुण्य क्रियाओं का (सरणं) आश्रय रूप (हवइ) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार विनय की महत्वता को समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस विनय को अपना परम स्नेही बनाले। जिससे वह इस संसार में प्रशंसा का पात्र हो जाय। जिस प्रकार यह पृथ्वी सभी प्राणियों को आश्रय रूप है ऐसे ही विनयशील मानव भी सदाचार रूप अनुष्ठान का आश्रय रूप है। अर्थात् कृत कर्मों के लिए सदाम रूप है।

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ १६ ॥

भावार्थ –हे गौतम ! जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करता है और उस को अनेक प्रकार से घी प्रक्षेपण रूप आहुति एवं मंत्र पदों से सिंचित करते हैं इसी तरह पुत्र और शिष्यों का कर्त्तव्य और धर्म है कि चाहे वे अनंत ज्ञानी भी क्यों न हो उन का अपने बड़े बूढे और गुरु जनों एवं आचार्य की सेवा शुश्रूषा करनी ही चाहिए। जो ऐसा करते हैं वे ही सचमुच में विनीत हैं।

आयरियं कुवियं णच्चा, पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो, वइज्ज ण पुणत्ति य ॥१४॥

अन्वयार्थ –हे इन्द्रभूति ! (आयरियं) आचार्य को (कुवियं) कुपित (णच्चा) जान कर (पत्तिएण) प्रीति कारक शब्दों से फिर (पसायए) प्रसन्न करे (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (विज्झवेज्ज) शान्त करे (य) और (ण पुणत्ति) फिर ऐसा अविनय नहीं करूँगा ऐसा (वइज्ज) बोले।

भावार्थः–हे गौतम ! वय बड़े गुरु जन एवं आचार्य अपने पुत्र शिष्यादि की अविनयता से कुपित हो उठे तो

(१) कई जगह " णच्चा " की जगह (नच्चा) भी मूल पाठ में आता है। ये दोनों शुद्ध हैं। क्योंकि प्राकृत में नियम है कि " नो णः " नकार का णकार होता है। पर शब्द के आदि में न हो तो वहाँ " वा आदौ " इस सूत्र से नकार का णकार विकल्प से हो जाता है। अथात् नकार या णकार दोनों में से कोई भी एक हो।

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! वह स्थान (निव्वाणंति) निर्वाण (अबाहंति) अबाध (सिद्धी) सिद्धि (य) और (एव) ऐसे ही (लोगग्गं) लोकाग्र (खेमं) क्षेम (सिवं) शिव (अणाबाहं) अनाबाध, इन शब्दों से भी पुकारा जाता है। ऐसे (जं) उस स्थान को (महेसिणो) महर्षि लोग (चरंति) जाते हैं।

भावार्थः–हे गौतम ! उस स्थान को निर्वाण भी कहते हैं जहाँ आत्मा के सर्व प्रकार के संतापों का एकदम अभाव रहता है। अबाधा भी उसी स्थान का नाम है जहाँ आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है। उसको सिद्धि भी कहते हैं, जहाँ आत्मा ने अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लिया है। और लोक के अग्रभाग पर होने से लोकाग्र भी उसी स्थान को कहते हैं। फिर उसका नाम क्षेम भी है क्योंकि वहाँ आत्मा को शाश्वत सुख मिलता है। उसी को शिव भी कहते हैं जहाँ आत्मा निरुपद्रव से सुख भोगती रहती है। इसी तरह उसको अनाबाध [Natural happiness] भी कहते हैं। जिससे वहाँ गयी हुई आत्मा स्वाभाविक सुखों का उपभोग करती रहती है किसी भी तरह की बाधा उसे वहाँ होती नहीं। इस प्रकार के उस स्थान को संयमी जीवन के बिताने वाली आत्माएँ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करती हैं।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एय मग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (णाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) दर्शन (चेव) और इसी तरह (चरित्तं) चारित्र

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति (देवगन्धव्वमणुस्सपूइए) देव गन्धर्व और मनुष्य से पूजित (स) वह विमल बुद्धि मनुष्य (मलपंकपुव्वयं) रुधिर और वीर्य से बनने का कारण है पूर्व जिसमें (इह) मानव शरीर को (चइत्तु) छोड़ करके (सासए) शाश्वत ऐसा (सिद्धे वा) सिद्ध (हवइ) होता है (वा) अथवा (अप्परए) अल्प कर्म वाला (महिड्ढिए) महा ऋद्धिवंता (देवे) देवता होता है।

भावार्थः-हे गौतम! देव गन्धर्व और मनुष्यों के द्वारा पूजित ऐसा वह विमल मनुष्य रुधिर और वीर्य से बने हुए इस शरीर को त्याग कर शाश्वत सुखों को सम्पादन कर लेता है। अथवा अल्प कर्म वाले महा ऋद्धिवंता देव जो हैं उनकी श्रेणी में जन्म धारण करता है। ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है।

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (लोगग्गम्मि) लोक के अग्र भाग पर (दुरारुहं) कठिनता से चढ़ सके ऐसा (एगं) एक (धुवं) निश्चल (ठाणं) स्थान (अत्थि) है। (जत्थ) जहाँ पर (जरामच्चू) जरामृत्यु (वाहिणो) व्याधियाँ (तहा) तथा (वेयणा) वेदना (नत्थि) नहीं है।

भावार्थ-हे गौतम! कठिनता से जा सके ऐसा एक निश्चल लोक के अग्र भाग पर स्थान है। जहाँ पर न बुढ़ापा का दुःख है और न व्याधियों ही की [illegible] है। तथा शारीरिक व मानसिक वेदनाओं का भी वहाँ नाम नहीं है।

णिव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवमणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! वह स्थान (निव्वाणंति) निर्वाण (अबाह ति) अबाध (सिद्धी) सिद्धि (य) और (एव) ऐसे ही (लोगग्गं) लोकाग्र (खेमं) क्षेम (सिवं) शिव (अणाबाह) अनाबाध इन शब्दों से भी पुकारा जाता है। ऐसे (ज) उस स्थान को (महेसिणो) महर्षि लोग (चरति) जाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! उस स्थान को निर्वाण भी कहते हैं जहाँ आत्मा के सर्व प्रकार के संतापों का एकदम अभाव रहता है। अबाधा भी उसी स्थान का नाम है, जहाँ आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है। उसको सिद्धि भी कहते हैं; जहाँ आत्मा ने अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लिया है। और लोक के अग्रभाग पर होने से लोकाग्र भी उसी स्थान को कहते हैं। फिर उसका नाम क्षेम भी है क्योंकि वहाँ आत्मा को शाश्वत सुख मिलता है। उसी को शिव भी कहते हैं जहाँ आत्मा निरूपद्रव से सुख भोगती रहती है। इसी तरह उसको अनाबाध [Natural happiness] भी कहते हैं। जिससे वहाँ गयी हुई आत्मा स्वभाविक सुखों का उपभोग करती रहती है किसी भी तरह की बाधा उसे वहाँ होती नहीं। इस प्रकार के उस स्थान को संयमी जीवन के बिताने वाली आत्माएँ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करती हैं।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एय मग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) श्रद्धान (चेव) और इसी तरह (चरित्तं) चारित्र

(य) और (तहा) वैसे ही (तवो) तप (एवं) इन चार प्रकार के (मग्ग) मार्गों को (अणुपत्ता) प्राप्त होने पर (जीवा) जीव (सोग्गइं) मुक्ति गति को (गच्छंति) प्राप्त होते हैं

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार के मोक्ष स्थान में वही जीव पहुँच पाता है जिसे सम्यक् ज्ञान है वीतरागों के वचनों पर जिसे श्रद्धा है जो चारित्रवान् है और तप में जिसकी प्रवृत्ति है। इस तरह इन चारों मार्गों को यथा विधि से जो पालन करता रहता है। फिर उसके लिए मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है। क्योंकि—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नाणेण) ज्ञान करके (भावे) जीवादिक तत्त्वों को (जाणई) जानता है (य) और (दंसणेण) दर्शन करके उन तत्त्वों को (सद्दहे) श्रद्धता है। (चरित्तेण) चारित्र करके नवीन पाप (निगिण्हाइ) रोकता है। और (तवेण) तपस्या करके (परिसुज्झई) पूर्व सञ्चित कर्मों को क्षय कर डालता है।

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सव्वस्स) सर्व (णाणस्स) ज्ञान के (पगासणाए) प्रकाशित होने से (अण्णाणमोहस्स) अज्ञान मोह के (विवज्जणाए) दूर जाने से (य) और (रागस्स) राग (दोसस्स) द्वेष के (संखएणं) क्षय हो जाने से (एगंतसोक्खं) एकान्त सुख रूप (मोक्खं) मोक्ष की (समुवेइ) प्राप्ति होती है।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक् ज्ञान के प्रकाशन से अज्ञान अमज्ञान के दूर जाने से और राग द्वेष के समूल नष्ट हो जाने से एकान्त सुख रूप जो मोक्ष है उसकी प्राप्ति होती है।

सव्वं तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तओ) सम्पूर्ण ज्ञान के हो जाने के पश्चात् (सव्वं) सर्व जगत् को (जाणइ) जान लेता है। (य) और (पासए) देख लेता है। फिर (अमोहणे) मोह रहित और (अणासवे) आश्रव रहित (होइ)

(च) और (तहा) वैसे ही (तवो) तप (एय) इन चार प्रकार के (मग्गं) मार्गों को (अणुपत्ता) प्राप्त होने पर (जीवा) जीव (सोग्गइं) मुक्ति गति को (गच्छंति) प्राप्त होते हैं

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार के मोक्ष स्थान में वही जीव पहुँच पाता है जिसे सम्यक् ज्ञान है वीतरागों के वचनों पर जिसे श्रद्धा है जो चारित्रवान् है और तप में जिसकी प्रवृत्ति है। इस तरह इन चारों मार्गों को यथा विधि से जो पालन करता रहता है। फिर उसके लिए मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है। क्योंकि—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नाणेण) ज्ञान करके (भावे) जीवादिक तत्त्वों को (जाणई) जानता है (य) और (दंसणेण) दर्शन करके उन तत्त्वों को (सद्दहे) श्रद्धता है। (चरित्तेण) चारित्र करके नवीन पाप (निगिण्हाइ) रोकता है। और (तवेण) तपस्या करके (परिसुज्झई) पूर्व संचित कर्मों को क्षय कर डालता है।

भावार्थ—हे गौतम ! सम्यक् ज्ञान के द्वारा जीव तात्त्विक पदार्थों को भली प्रकार जान लेता है। दर्शन के द्वारा उसकी उन में श्रद्धा हो जाती है। चारित्र अर्थात् सदाचार से भावी नवीन कर्मों को वह रोक देता है। और तपस्या के द्वारा करोड़ों भवों के पापों को वह क्षय कर डालता है।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (दड्ढाणं) दग्ध (बीयाणं) बीजों के (पुणकुरा) पुनरंकुर (ण) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं । उसी प्रकार (दड्ढेसु) दग्ध (कम्मबीएसु) कर्म बीजों में से (भवंकुरा) भव रूपी अंकुर (न) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थ:-हे गौतम ! जिस प्रकार भुने भुने बीजों को बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार जिसके कर्म रूपी बीज नष्ट हो गये हैं सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अव स्था में उस के भव रूपी अंकुर पुन उत्पन्न नहीं होते हैं ।

॥ श्री गौतमोवाच ॥

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ता ण कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२४॥

अन्वयार्थः-हे प्रभो ! (सिद्धा) सिद्ध जीव (कहिं) कहां पर (पडिहया) प्रतिहत हुए हैं ? (कहिं) कहां पर (सिद्धा) सिद्ध जीव (पइट्ठिया) रहे हुए हैं ? (कहिं) कहां पर (बोंदिं) शरीर को (चइत्ता) छोड़ कर (कत्थ) कहां पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध होते हैं ?

भावार्थः-हे प्रभो ! जो आत्माएँ, मुक्ति में गयी हैं वे कहां तो प्रतिहत हुई है ? कहां ठहरी हुई हैं ? मानव शरीर कहां पर छोड़ा है ? और कहां जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती हैं ?

(१) यं शास्त्रांतरा

होता है। (झाणसमाहिजुत्त) शुक्ल ध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह (आउक्खए) आयुष्य क्षय होने पर (सुद्धे) निर्मल (मोक्खं) मोक्ष को (उवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थ–हे गौतम ! शुक्ल ध्यान रूप समाधि के युक्त होने पर वह जीव मोह अन्तराय और आस्रव रहित हो जाता है। तब फिर वह सब लोक को जान लेता है। और देख लेता है। और मानव शरीर का आयु के पूर्ण हो जाने पर वह निर्मल मोक्षस्थान को पा लेता है।

सुक्कमूले जहा रुक्खे सिंचमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयगए ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (रुक्खे) वृक्ष जो कि (सुक्कमूले) सूखा हुआ है उसको (सिंचमाणे) सींचने पर (ण) नहीं (रोहति) लहलहाता है (एवं) उसी प्रकार (मोहणिज्जे) मोहनीय कर्म (खयगए) क्षय हो जाने पर पुनः (कम्मा) कर्म (ण) नहीं (रोहंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ: हे गौतम ! जिस प्रकार सूखे हुए वृक्ष के मूल का पानी से सींचने पर लहलहाता नहीं है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। क्योंकि जब कारण ही नष्ट हो गया तो फिर कार्य कैसे हो सकता है।

जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुणंकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (दड्ढाणं) दग्ध (बीयाणं) बीजों के (पुणकुरा) पुनरंकुर (ण) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार (दड्ढेसु) दग्ध (कम्मबीएसु) कर्म बीजों में से (भवंकुरा) भव रूपी अंकुर (न) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ -हे गौतम ! जिस प्रकार जला भूँजे बीजों को बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार जिसके कर्म रूपी बीज नष्ट हो गये हैं सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अवस्था में उस के भव रूपी अंकुर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं।

॥ श्री गौतमोवाच ॥

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२४॥

अन्वयार्थः-हे प्रभो ! (सिद्धा) सिद्ध जीव (कहिं) कहाँ पर (पडिहया) प्रतिहत हुए हैं ? (कहिं) कहाँ पर (सिद्धा) सिद्ध जीव (पइट्ठिया) रहे हुए हैं ? (कहिं) कहाँ पर (बोंदिं) शरीर को (चइत्ता) छोड़ कर (कत्थ) कहाँ पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध होते हैं ?

भावार्थः-हे प्रभो ! जो आत्माएँ, मुक्ति में गयी हैं वे कहाँ तो प्रतिहत हुई हैं ? कहाँ ठहरी हुई हैं ? मानव शरीर कहाँ पर छोड़ा है ? और कहाँ जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती हैं ?

---

(१) णं वाक्यालङ्कार।

ꣳ ता है। (झाणसमाहिजुत्त) शुक्ल ध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह (आउक्खए) आयुष्य क्षय होने पर (सुद्धे) निर्मल (मोक्खं) मोक्ष को (उवइ) प्राप्त होता है।

भावार्थ-हे गौतम ! शुक्ल ध्यान रूप समाधि के युक्त होने पर यह जीव मोह अन्तराय और आस्रव रहित हो जाता है। तब फिर वह सब लोक को जान लेता है। और देख लेता है। और मानव शरीर का आयु के पूर्ण हो जाने पर वह निर्मल मोक्षस्थान को पा लेता है।

सुक्कमूले जहा रुक्खे सिच्चमाणे ण रोहति ।
एव कम्मा ण रोहति मोहणिज्जे खयगए ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ -हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (रुक्खे) वृक्ष जो कि (सुक्कमूले) सूखा हुआ है उसको (सिच्चमाणे) सींचने पर (ण) नहीं (रोहति) लहलहाता है (एव) उसी प्रकार (मोहणिज्जे) मोहनीय कर्म (खयगए) क्षय हो जाने पर पुनः (कम्मा) कर्म (ण) नहीं (रोहंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थः हे गौतम ! जिस प्रकार सूखे हुए वृक्ष के मूल को पानी से सींचने पर लहलहाता नहीं है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। क्योंकि जब कारण ही नष्ट हो गया तो फिर कार्य कैसे हो सकता है।

जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुणंकुरा ।
कम्मबीयेसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (दड्ढाणं) दग्ध (बीयाणं) बीजों के (पुणंकुरा) पुनरंकुर (ण) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं । उसी प्रकार (दड्ढेसु) दग्ध (कम्मबीएसु) कर्म बीजों में से (भवंकुरा) भव रूपी अंकुर (न) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थः–हे गौतम ! जिस प्रकार जले भुँजे बीजों को बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके कर्म रूपी बीज नष्ट हो गये हैं सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अवस्था में उस के भव रूपी अंकुर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं ।

॥ श्री गौतमोवाच ॥

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदि चइत्ता ण कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२४॥

अन्वयार्थः–हे प्रभो ! (सिद्धा) सिद्ध जीव (कहिं) कहां पर (पडिहया) प्रतिहत हुए हैं ? (कहिं) कहां पर (सिद्धा) सिद्ध जीव (पइट्ठिया) रहे हुए हैं ? (कहिं) कहां पर (बोंदि) शरीर को (चइत्ता) छोड़ कर (कत्थ) कहां पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध होते हैं ?

भावार्थः–हे प्रभो ! जो आत्माएँ, मुक्ति में गयी हैं, वे कहां तो प्रतिहत हुई हैं ? कहां ठहरी हुई हैं ? मानव शरीर कहां पर छोड़ा है ? और कहां जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती हैं ?

---

(१) ण वाक्यालंकार ।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इह बोंदिं चइत्ता ण¹ तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति ! (सिद्धा) सिद्ध आत्माएँ (अलोए) अलोक में तो (पडिहया) प्रतिहत हुई हैं । (य) और (लोयग्गे) लोकाग्र पर (पइट्ठिया) ठहरी हुई हैं । (इहं) इस लोक में (बोंदिं) शरीर को (चइत्ता) छोड़कर (तत्थ) लोक के अग्रभाग पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध हुई हैं ।

भावार्थ–हे गौतम ! जो आत्माएँ सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं वे फिर शीघ्र ही स्वाभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं अर्थात् अलोक में गमन करने में सहायक वस्तु धर्मास्तिकाय [A substance which is the medium of motion to soul and matter and which contains innumer able atoms of space pervades the whole universe and has no fulcrum of motion] नहीं होने से गति रुक जाती है । तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक के अग्रभाग पर ठहरी रहती हैं । वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यहीं छोड़ कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती हैं ।

अरूविणो जीवघणा, णाणदंसणसण्णिया ।
अउलं सुहसंपण्णा, उवमा जस्स णत्थि उ ॥ २७ ॥

---

(१) चं मानसार्थकर ।

अन्वयार्थः—हे गौतम ! (अरूविणो) सिद्धात्मा अरूपी हैं। और (जीवघणा) वे जीव घन रूप हैं। (नाणदंसणसण्णिया) जिन की केवल ज्ञान दर्शन रूप ही संज्ञा है। (अउलं) अतुल (सुहसंपन्ना) सुख करके युक्त हैं (जस्स उ) जिस की तो (उवमा) उपमा भी (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्मा सिद्धात्मा के रूप में होती हैं, वे अरूपी हैं, उन के आत्म-प्रदेश घन रूप में होते हैं। ज्ञान दर्शन रूप ही जिन की केवल संज्ञा होती है और वे सिद्धात्माएँ अतुल सुख से युक्त रहती हैं। जिन के सुखों की उपमा भी नहीं दी जा सकती है।

॥ श्री सुधर्मोवाच ॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी,
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगवं,
वेसालिए विआहिए ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः—हे जम्बू ! (अणुत्तरनाणी) प्रधान ज्ञान (अणुत्तरदंसी) प्रधान दर्शन अर्थात् (अणुत्तरनाणदंसणधरे) एक ही समय में जानना और देखना ऐसे प्रधान ज्ञान और दर्शन उसके धारक, और (विआहिए) सम्यो पदेशक (से) उन निर्ग्रंथ (नायपुत्ते) सिद्धार्थ के पुत्र (वेसालिए) त्रिशला के अंगज (अरहा) अरिहंत (भगवं) भगवान् ने (एवं) इस प्रकार (उदाहु) कहा है। (त्ति बेमि) इस प्रकार सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी प्रति कहा है।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ता ण [१] तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सिद्धा) सिद्ध आत्माएँ (अलोए) अलोक में तो (पडिहया) प्रतिहत हुई हैं। (य) और (लोयग्गे) लोकाग्र पर (पइट्ठिया) ठहरी हुई हैं। (इह) इस लोक में (बोंदिं) शरीर को (चइत्ता) छोड़कर (तत्थ) लोक के अग्रभाग पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध हुई हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्माएँ सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं वे फिर शीघ्र ही स्वाभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं अर्थात् अलोक में गमन करने में सहायक वस्तु धर्मास्तिकाय [A substance which is the medium of motion to soul and matter and which contains innumerable atoms of space pervades the whole universe and has no fulcrum of motion] नहीं होने से गति रुक जाती है। तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक के अग्रभाग पर ठहरी रहती हैं। वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यहीं छोड़ कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती हैं।

अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहसंपन्ना, उवमा जस्स नत्थि उ ॥ २७ ॥

---

(१) [illegible]

अन्वयार्थः—हे गौतम ! (अरूविणो) सिद्धात्मा अ रूपी हैं। और (जीवघणा) वे जीव घन रूप हैं । (नाण दंसणसन्निया) जिन की केवल ज्ञान दर्शन रूप ही संज्ञा है। (अउलं) अतुल (सुहसंपत्ता) सुख करके युक्त हैं (जस्स उ) जिस की तो (उवमा) उपमा भी (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्मा सिद्धात्मा के रूप में होती हैं वे अरूपी हैं उन के आत्म-प्रदेश घन रूप में होते हैं। ज्ञान दर्शन रूप ही जिन की केवल संज्ञा होती है और वे सिद्धात्माएँ अतुल सुख से युक्त रहती हैं। जिन के सुखों की उपमा भी नहीं दी जा सकती है।

॥ श्री सुधर्मोवाच ॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी,
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते भगवं,
वेसालिए वियाहिए ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः—हे जम्बू ! (अणुत्तरनाणी) प्रधान ज्ञान (अणुत्तरदंसी) प्रधान दर्शन अर्थात् (अणुत्तरनाणदंसणधरे) एक ही समय में जानना और देखना ऐसे प्रधान ज्ञान और दर्शन उसके धारक, और (वियाहिए) सच्चे उपदेशक (से) उन निर्ग्रंथ (णायपुत्ते) सिद्धार्थ के पुत्र (वेसालिए) त्रिशला के अंगज (अरहा) अरिहंत (भगवं) भगवान् ने (एवं) इस प्रकार (उदाहु) कहा है। (त्ति बेमि) इस प्रकारसुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी प्रति कहा है।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इह बोंदीं चइत्ता णं तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (सिद्धा) सिद्ध आत्माएँ (अलोए) अलोक में तो (पडिहया) प्रतिहत हुई हैं। (य) और (लोयग्गे) लोकाग्र पर (पइट्ठिया) ठहरी हुई हैं। (इह) इस लोक में (बोंदीं) शरीर को (चइत्ता) छोड़कर (तत्थ) लोक के अग्रभाग पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध हुई हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्माएँ सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं वे फिर शीघ्र ही स्वभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं अर्थात् अलोक में गमन करने में सहायक वस्तु धर्मास्तिकाय [A substance which is the medium of motion to soul and matter and which contains innumerable atoms of space, pervades the whole universe and has no fulcrum of motion] नहीं होने से गति रुक जाती है। तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक के अग्रभाग पर ठहरी रहती हैं। वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यहीं छोड़ कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती हैं।

अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहसंपन्ना, उवमा जस्स नत्थि उ ॥ २७ ॥

---

(१) के बाक्यालंकार।

॥ णमो सिद्धाणं ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-मूल

अध्याय पहला

श्री भगवानुवाच ।

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो,
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १ ॥

उ० अ० १४ गाथा १९

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥ २ ॥

उ० अ० २० गा० ३६

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३ ॥

उ० अ० २० गा० ३७

न तं अरी कंठछित्ता करोति,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

भावार्थः—हे जम्बू ! प्रधान ज्ञान और प्रधान दर्शन के धारी अर्थात् एक ही समय में एक ही साथ ज्ञान दर्शन हो जाय ऐसा केवल ज्ञान और दर्शन के धारक सद्योपदश करने वाले प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल के सिद्धार्थ राजा के पुत्र और त्रिशला रानी के अंगज निर्ग्रन्थ अरिहंत भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है ऐसा सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रति निर्ग्रन्थ के प्रवचन को समझाया है।

॥इति निर्ग्रंथ-प्रवचनस्याष्टादशोऽध्याय ॥

जीवाऽजीवा य बंधो य, पुण्णं पावाऽसवा तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥१२॥

उ अ २८ गा १४

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो ।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ १३ ॥

उ अ २८ गा, ७

धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो ॥१४॥

उ अ २८ गा ८

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥ १५ ॥

उ अ, २८ गा ९

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥ १६ ॥

उ अ २८ गा १०

सद्दंधयारउज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेइ वा ।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १७ ॥

उ अ २८ गा १२

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१८॥

उ अ २८ गा १३

॥ इति प्रथमोऽध्याय ॥

से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ ४ ॥

उ अ २ गा ५८

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥ ५ ॥

उ अ १ गा १५

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहि दम्मन्तो, बन्धणेहि वहेहि य ॥ ६ ॥

उ अ १ गा १६

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ ७ ॥

उ अ ९ गा ३४

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ८ ॥

उ अ ९ गा ३५

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ९ ॥

उ अ ९ गा ३६

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥ १० ॥

उ अ २३ गा ७३

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥ ११ ॥

उ अ २८ गा ११

वेयणीयं पि अ दुविहं, सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥ ७ ॥
उ अ ३३ गा ७

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥
उ अ ३३ गा ८

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ९ ॥
उ अ ३३ गा ९

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं ।
कसाय मोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥
उ अ ३३ गा१०।

सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं ।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं नोकसायजं ॥ ११ ॥
उ अ ३३ गा ११

नेरइयतिरिक्खाउ, मणुस्साउं तहेव य ।
देवाउयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥
उ अ ३३ गा १२

नामकम्मं तु दुविहं, सुह असुहं च आहियं ।
सुहस्स य बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥
उ अ ३३ गा १३

अध्याय दूसरा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परियत्तइ ॥ १ ॥

उ अ ३३ गा १

नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य ॥ २ ॥
नाम कम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥

उ अ ३३ गा. २-३

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

उ अ ३३ गा ४

निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥
चक्खुमचक्खुओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नव विगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

उ अ ३३ गा ५-६

एवं पया पेच्च इहं च लोए,
　　कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥२२॥
　　　　　　उ अ ४ गा ३

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
　　साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
　　न बंधवा बंधवयं उवेंति ॥ २३ ॥
　　　　　　उ अ ४ गा ४

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
　　न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
　　कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ २४ ॥
　　　　　　उ अ १३ गा २३

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
　　खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मप्पबीओ अवसो पयाइ,
　　परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥ २५ ॥
　　　　　　उ अ १३ गा २४

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
　　अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
　　मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥ २६ ॥
　　　　　　उ अ ३२ गा ६

गोयकम्म तु दुविहं, उच्च नीयं च आहियं ।
उच्च अट्ठ विह होइ एव नीअं वि आहिअं ॥ १४ ॥
उ अ ३३ गा १४

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमन्तरायं समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥
उ अ ३३ गा १५

उदहिसरिसनामाण तीसई कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि वेयणिज्जे तहेव य ।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥१७॥
उ अ ३३ गा १९-२

उदहिसरिस नामाणं सत्तरि कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१८॥
तेत्तीस सागरोवम उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स अन्तोमुहुत्तंजहन्निया ॥१९॥
उदहिसरिसनामाणं वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा अट्ठ मुहुत्ता जहन्निया ॥२०॥
उ अ ३३ गा २१-२२-२३

एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥ २१ ॥
उ अ ३ गा ३

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।

अध्याय तीसरा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोही मणुपत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥१॥
उ अ ३ गा ७

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया।
उविंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥
उ अ ७ गा २०

बाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी।
पवंचा पब्भारा य, मुम्मुही सायणी तहा ॥३॥
स्था १० वां

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥४॥
उ अ ३ गा ८

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥५॥
द. अ १ गा. १

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाई मरणं वयंति ॥ २७ ॥
उ अ ३२ गा ७

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो
लोहो हओ जस्स न किंचणाई ॥ २८ ॥
उ अ ३२ गा ८

॥इति द्वितीयोऽध्याय ॥

अध्याय तीसरा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥१॥
उ अ ३ गा ७

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि सुव्वया ।
उवेंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥
उ अ ७ गा २०

बाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी ।
पवञ्चा पब्भारा य, मुम्मुही सायणी तहा ॥३॥
स्था १० वां

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥४॥
उ अ ३ गा ८

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सयामणो ॥५॥
द. अ १ गा. १

मूला उ खंधप्पभवो दुमस्स
खंधाउ पच्छासमुविंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥६॥
द श. ९ उ २ गा १

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥
द श ९ उ २ गा २

अणुसट्ठं पि बहुविहं, मिच्छदिट्ठिया जे नरा अबुद्धीया।
बद्धनिकाइय कम्मा सुणंति धम्मं न परं करेंति ॥८॥
प्रश्न व्याकरण

जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥९॥
द श ८ गा ३६

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडि निअत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥१०॥
उ अ १४ गा २४

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडि निअत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ ॥११॥
उ अ १४ गा २५

सोही उज्जुअ भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व्व पावए ॥१२॥
उ अ ३ गा १२

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥ १३॥
उ अ २३ गा ६८

एस धम्मे धुवे णिच्चए, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे ॥१४॥
उ अ १६ गा १७

॥ इति तृतीयोऽध्याय ॥

मूला उ खंधप्पभवो दुमस्स
खंधाउ पच्छासमुविंति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो अ ॥६॥
द अ. ९ उ २ गा १

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण किर्त्ति सुअं सिग्घं नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥
द अ ९ उ २ गा २

अणुमइ पि पडुविह, मिच्छ दिट्ठिया जे नरा अबुद्धीया ।
बद्धनिकाइय कम्मा सुणंति धम्मं न पर करेंतिं॥८॥
प्रश्न आश्रवद्वार

जरा जाव न पीडइ वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥९॥
द अ ८ गा ३६

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडि निअत्तइ ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥१०॥
उ अ १४ गा २४

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडि निअत्तइ ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ ॥११॥
उ अ १४ गा २५

सोही उज्जुअ भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्ते व्व पावए ॥१२॥
उ अ ३ गा १२

अह रागेण कडाण कम्माण, पावगो फलविवागो ।
अह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥
औपपातिक

आलोयण निरवलावे, आवई सुदढ धम्मया ।
अणिस्सिओ ववहारो य, सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥७॥
सं ३२ वां

अण्णायया अलोभेय, तितिक्खा अज्जवे सुइ ।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥८॥
सं ३२ वां

धिइमई य संवेगे पणिही सुविही संवरे ।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकाम विरत्तया ॥९॥
सं ३२ वां

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमाद लवालवे ।
ज्झाणे संवर जोगे य, उदए मारणंतिए ॥१०॥
सं० ३२ वां

संगाणं य परिण्णाया, पायच्छित्तकरणे वि य ।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥
स० ३२ वां

अरहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया तेसिं अभिक्खण णाणोवओगे य ॥१२॥
ज्ञा० अ० ८

दंसण विणए आवस्सए, सीलव्वए निरइयारं ।
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥१३॥
ज्ञा अ० ८

अध्याय चौथा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥१॥

औपपातिक

माणुस्सं च अणिच्चं
वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए,
देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥ २ ॥

औपपातिक

णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च।
सिद्धे य सिद्धवसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ ॥३॥

औपपातिक

जह जीवा बज्झंति मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं करेंति केई अपडिबद्धा ॥४॥

औपपातिक

अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥५॥

औपपातिक

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं मासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ ॥२१॥
द० अ० ४ गा० ८

पच्छा वि ते पयाया,
खिप्पं गच्छंति अमर भवणाइं।
जेसिं पियो तवो संजमो य
खंती य बंभचेरं च ॥२२॥
द० अ० ४ गा० २८

तवो जोइ जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंग।
कम्मेहा संजमजोगसंती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥२३॥
उ० अ० १२ गा० ४४

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीति भूओ पजहामि दोसं ॥२४॥
उ० अ० १२ गा० ४६

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥६॥
द अ ४ गा ११

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥७॥
उ अ २९ बोल ५९ वां

जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥८॥
उ अ ६ गा १

इह मेगे उ मन्नंति, अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥९॥
उ अ ६ गा ८

भणंता अकरेंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेंति अप्पयं ॥१०॥
उ अ ६ गा ९

न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासणं।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥११॥
उ अ ६ गा १०

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥१२॥
उ अ ६ गा ११

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ॥१३॥
उ अ १९ गा ८९

अध्याय पाँचवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

तत्थ पञ्चविहं नाणं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥१॥
उ. अ. २८ गा. ४

अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ॥२॥
नन्दी

एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥३॥
उ. अ. २८ गा. ५

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥४॥
उ. अ. २८ गा. ६

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाहिइ छेय पावगं ॥५॥
द. अ. ४ गा. १०

अध्याय छठा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥
आवश्यक

परमत्थ संथवो वा सुदिट्ठ, परमत्थसेवणा वा वि।
वावण्ण कुदंसणवज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा ॥ २ ॥
उ. अ २८ गा २८

कुप्पावयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥ ३ ॥
उ अ २१ गा ६३

तहियाण तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्त ति वियाहियं ॥ ४ ॥
उ अ २८ गा १५

निस्सग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीअरुइमेव।
अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥ ५ ॥
उ अ २८ गा १६

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥ ६ ॥
उ अ २८ गा २९

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणओ ॥ १४ ॥
उ अ १९ गा ९०

अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥ १५ ॥
उ अ १९ गा ९२

॥ इति पंचमोऽध्याय ॥

अध्याय छठा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥
आवश्यक

परमत्थ संथवो वा सुदिट्ठ, परमत्थसेवणायावि ।
वावण्ण कुदंसणवज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा ॥ २ ॥
उ. अ. २८ गा. २८

कुप्पावयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥ ३ ॥
उ अ २३ गा ६३

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं ति वियाहियं ॥ ४ ॥
उ अ २८ गा १५

निस्सग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीअरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥ ५ ॥
उ अ २८ गा १६

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइअव्वं ।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥ ६ ॥
उ अ २८ गा २९

नादंसणिस्स नाणं,
माणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥ ७ ॥
उ अ २८ गा ३०

निस्संकिय निक्कंखिय,
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे,
वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ ८ ॥
उ अ २८ गा ३१

मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय य मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ ९ ॥
उ अ ३६ गा. २५५

सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा सुलहा तेसिं भवे बोही ॥१०॥
उ अ ३६ गा २५६

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करिंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥११॥
उ अ ३६ गा २५८

नाणेण य दंसणेण य चरित्तेण तवेण
भूतांहिं भावे परिसेहें सार्थ।

तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा,
सम्मत्तदंसी ण करेति पाव ॥ १२ ॥
आ अ ३ उ २

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाउ तहच्चाउ, जे धम्मट्ठ वियागरे ॥ १३ ॥
सू. प्र अ १५ गा १८

॥ इति षष्ठोऽध्याय ॥

अध्याय सातवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

महव्वए पंच अणुव्वए, य,
तहेव पंचासव संवरे य।
विरतिं इह सामाणियम्मि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥ १ ॥
सू. द्वि. अ. ६ गा. ६

इंगाली, वण, साडी,
भाडी, फोडी, सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव य दंत,
लक्खरस केसविसविसयं ॥ २ ॥
आवश्यक

एवं खु जंतपिल्लण कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं।
सरदहतलायसोसं असईपोसं च वज्जिज्जा ॥३॥
आवश्यक

दंसणवयसामाइय, पोसह पडिमा य बंभ अचित्ते।
आरंभपेसउद्दिट्ठ वज्जए, समणभूए य ॥ ४ ॥
आवश्यक

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥ ५ ॥
आवश्यक

अगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥६॥
उ अ ५ गा २३

एव सिक्खासमावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥
उ अ ५ गा २४

दीहाउया इड्ढिमंता समिद्धा कामरूविणो ।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जोअच्चिमालिप्पभा ॥८॥
उ अ ५ गा २७

ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संतिपरिनिव्वुडा ॥९॥
उ अ ५ गा २८

बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१०॥
उ अ ६ गा १३

दुल्लहाउ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥११॥
द अ ५ उ १ गा १०

संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥
उ अ ५ गा २०

चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडि मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं ॥१३॥
उ अ ५ गा २१

अध्याय सातवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

महव्वए पंच अणुव्वए, य
तहेव पंचासव संवरे य ।
विरतिं इह सामणियंमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्ति बेमि ॥ १ ॥
सू. द्वि. अ. ६ गा. ६

इंगाली वण साडी,
भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य दंत
लक्खरसकेसविसविसयं ॥ २ ॥
आवश्यक

एवं खु जंतपिल्लण कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं ।
सरदहतलायसोसं असईपोसं च वज्जिज्जा ॥३॥
आवश्यक

दंसणवयसामाइय पोसह पडिमा य बंभ अचित्ते ।
आरंभपेसउद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥ ४ ॥
आवश्यक

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणई ॥ ५ ॥
आवश्यक

आगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराई न हावए ॥६॥
उ अ ५ गा २३

एवं सिक्खासमावण्णे, गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥
उ अ ५ गा २४

दीहाउया इड्ढिमंता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥८॥
उ अ ५ गा २७

ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संतिपरिनिव्वुडा ॥९॥
उ अ ५ गा २८

बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१०॥
उ अ ६ गा १३

दुल्लहाउ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाइ मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥११॥
द अ ५ उ १ गा १००

संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥
उ अ ५ गा २०

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं ॥१३॥
उ अ ५ गा २१

अध्याय सातवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

महव्वए पंच अणुव्वए, य,
तहेव पंचासव संवरे य ।
विरतिं इह सामाणियंमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तियेमि ॥ १ ॥
सू. श्रि. अ १ गा १

इंगाली वण साडी
भाडी फोडी, सुवज्जए कम्म ।
वाणिज्जं चेव य दंत
लक्खरसकेसविसविसय ॥ २ ॥
आवश्यक

एवं खु जंतपिल्लण कम्म, निल्लंछण च दवदाण ।
सरदहतलायसोस असइपोस च वज्जिज्जा ॥३॥
आवश्यक

दंसणवयसामाइय पोसह पडिमा य बंभ अचित्ते ।
आरंभपेसउद्दिट्ठ वज्जए, समणभूए य ॥ ४ ॥
आवश्यक

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणई ॥ ५ ॥
आवश्यक

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताणं भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥
उ. अ. १९ गा. १८

दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया वा ॥१३॥
उ. अ. ८ गा. ६

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥१४॥
उ. अ. २५ गा. ४१

मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१५॥
उ. अ. ३२ गा. १७

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१६॥
उ. अ. ३२ गा. १८

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥९७॥

द. अ ८ गा ५८

णो रक्खसीसु गिज्झेज्जा
गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेलंति जहा वा दासेहिं ॥९८॥

उ अ. ८ गा. १८

भोगामिसदोसविसण्णे
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे
बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥९९॥

उ अ ८ गा ५

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥१००॥

उ अ ९ गा ५३

खणमेत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१०१॥

उ अ. १४ गा १३

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताणं भोगाण, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥
उ अ १९ गा १८

दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया वा ॥१३॥
उ अ ८ गा ६

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥१४॥
उ अ २५ गा ४१

मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसार भीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१५॥
उ अ ३२ गा १७

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१६॥
उ अ ३२ गा १८

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।

जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥
उ अ ३२ गा १६

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥
उ अ. १६ गा १६

॥ इति अष्टमोऽध्याय ॥

॥ अध्याय नौवाँ ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥
द म ६ गा ११

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए॥२॥
द म ६ गा १२

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥३॥
द म. ६ गा १४

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥
द म ६ गा १७

लोभस्सेसमणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से ॥५॥
द म. ६ गा, १९

जं पि वत्थं व पायं वा, कम्बलं पायपुच्छणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहंति य ॥६॥
द. म ६ गा २०

जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥
उ अ ३२ गा १६

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥
उ अ १६ गा १६

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ अध्याय नौवां ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥
द. अ. ६ गा. ११

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥२॥
द. अ. ६ गा. १२

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥३॥
द. अ. ६ गा. १४

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥
द. अ. ६ गा. १७

लोभस्सेसमणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से ॥५॥
द. अ. ६ गा. १९

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरंति य ॥६॥
द. अ. ६ गा. २०

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥७॥
द. अ. ६ गा. २१

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥८॥
द. अ. ६ गा. २६

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणि सत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥९॥
द. अ. १० गा. २

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥
द. अ. १० गा. ३

महुकार समा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥
द. अ. १ गा. ५

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥
द. अ. ५ उ. २ गा. ३०

पएणसमत्ते सया जए, समताधम्ममुदाहरे मुणी।
सुहमेठ सया अलूसए,णो कुज्झे णो माणि माहणो १३
सू. प्र. अ २ उ २ गा ६

न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जा चरणं सुचिण्णं।
णिक्खम से सेवइ गारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥१४॥
सू. प्र. अ १३ गा ११

एवं ण से होइ समाहिपत्ते,
जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते,
अन्नं जणं खिसति बालपन्ने ॥१५॥
सू. प्र. अ १३ गा १४

न पूयणं चेव सिलोयकामी,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥१६॥
सू. प्र. अ १३ गा २२

आए सआए निक्खंतो परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिय सम्मए ॥१७॥
द. अ. ८ गा ६१

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥७॥
द. अ. ६ गा. २१

एय च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥८॥
द. अ. ६ गा. २६

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणि सत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥९॥
द. अ. १० गा. २

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥
द. अ. १ गा. ३

महुकार समा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिण्डरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥
द. अ. १ गा. ५

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥
द. अ. ५ उ. २ गा. ३

पएणा समत्ते सया जए, समताधम्ममुदाहरे मुणी।
सुहमेउ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥१३॥
सू. प्र. श्र. २ उ. २ गा. ६

न सस्स जाई व कुलं व ताणं,
णएणत्थ विज्जा चरणं सुचिणं।
णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥१४॥
सू. प्र. श्र. १३ गा. ११

एवं ण से होइ समाहिपत्ते,
जे पएणव भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते,
अएणं जणं खिंसति बालपएणे ॥१५॥
सू. प्र. श्र. १३ गा. १४

न पूयणं चेव सिलोयकामी,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥१६॥
सू. प्र. श्र. १३ गा. २२

आए सयाए भिक्खंतो परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिय सम्मए ॥१७॥
द. अ. ८ गा. ६१

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥७॥

द अ ६ गा २१

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति निग्गंथा राइभोयणं ॥८॥

द अ ६ गा. २६

पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणिं सत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥९॥

द अ १ गा. २

अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥

द अ १ गा. ३

महुकार समा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

द. अ १ गा ५

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥

द. अ. ५ उ २ गा ३०

अवसोहियाकटगापह,
तइएणो सि पह महालयं ।
गच्छसि मग्ग विसोहिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

उ अ. १० गा ३२

अवले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

उ अ १ गा ३३

तिएणो हु सि अएणव मह;
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पार गमित्तए,
समय गोयम ! मा पमायए ॥२८॥

उ अ १० गा ३४

अकलेवर सेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम मा पमायए ॥२९॥

उ अ १० गा ३५

॥ इति दसमोऽध्याय ॥

से सोयबले य हायई,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२१॥
उ म १ गा २१

अरई गंड विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥
उ म १० गा २७

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं वा पाणियं ।
से सव्वसिणेह वज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥
उ म १० गा २८

चिच्चाण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥
उ म १ गा २९

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥
उ म १ गा ३१

अवसोहियाकण्टगापहं,
ओइण्णो सि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

उ अ १० गा ३२

अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

उ अ १ गा ३३

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२८॥

उ अ १० गा ३४

अकलेवर सेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम मा पमायए ॥२९॥

उ अ १० गा ३५

॥ इति दसमोऽध्याय ॥

से सोयबले य हायइ,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२१॥
उ अ १ गा २१

अरई गंड विसूइया
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥
उ अ १ गा २७

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं वा पाणियं।
से सव्वसिणेह वज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥
उ अ १ गा २८

चिच्चा धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥
उ अ १ गा २९

न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥
उ अ १ गा ३१

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भयस माणवो
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥६॥
द म ७ गा ५४

अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥७॥
द म ८ गा ४८

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वइमए कण्णसरे स पुज्जो ॥८॥
द. म १ उ ३ गा ६

मुहुत्तदुक्खाउ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥९॥
द म ९ उ ३ गा ७

अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥१०॥
द म ९ उ ३ गा ९

अध्याय ग्यारहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिं नाइन्ना न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१॥

द० अ० गा० २

असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥२॥

द० अ० गा० ३

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥३॥

द० अ० गा० ११

तहेव काणं काणे त्ति पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥४॥

द० अ० गा० १२

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ मा वा होउ त्ति नो वए ॥५॥

द० अ० गा० ५

इण मन्नं तु अन्नाणं, इह मेगेसि माहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे ॥१७॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीव समाउत्ते, सुहदुक्ख समन्निए ॥१८॥
सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥१९॥
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासीय, अयाणंता मुसं वदे ॥२०॥

सू. प्र. उ. ३ गा. ५ ६ ७-८

सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेति य ।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि ॥२१॥

सू. प्र. उ. ३ गा. ९

इति एकादशोऽध्यायः ।

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो ।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥११॥

उ अ १ गा ४

कणकुण्डग चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥१२॥

उ अ १ गा ५

आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं णो कडेत्ति य ॥१३॥

उ अ १ गा ११

पडिणीयं च बुद्धाणं वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, णेव कुज्जा कयाइ वि॥१४॥

उ अ १ गा १७

जणवय सम्मयठवणा य,
नामे रूवे पडुच्च सच्चे य ।
ववहार भावे जोगे
दसमे ओवम सच्चेय ॥ १५ ॥

पन्नवणा भाषापद

कोहे माणे माया लोभे
पेज्ज तहेव दोसे य ।
हासे भए अक्खाइ य
उवघाए य निस्सिया दसमा ॥१६॥

पन्नवणा भाषापद

पके वकसमायरे, नियडिल्ले अणुज्जुए।,
पलिउचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥६॥
उप्फालग दुट्ठवाईय, तेणे आवि य मच्छरी।
एअ जोगसमाउत्तो काऊ लेस तु परिणमे ॥७॥
उ अ. ३४ गा २५ २६

नीयावित्ती अचवले; अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दते, जोगवं उवहाणव ॥८॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए।
एय जोगसमाउत्तो, तेऊलेस तु परिणमे ॥९॥
उ अ ३४ गा २७-२८

पयणुकोहमाणे य, माया लोभे य पयणुए।
पसतचित्ते दतप्पा, जोगवं उवहाणव ॥१०॥
तहा पयणुवाई य, उवसते जिइन्दिए ।
एय जोगसमाउत्तो, पम्हलेस तु परिणमे ॥११॥
उ अ ३४ गा २९ ३०

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए।
पसत चित्ते दतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥१२॥
सरागो वीयरागो वा, उवसते जिइन्दिए।
एय जोगसमाउत्तो, सुक्कलेस तु परिणमे ॥१३॥
उ अ ३४ गा. ३१ ३२

किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि,एयाओ अहम लेसाओ
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥१४॥
उ अ ३४ गा ५६

अध्याय बारहवां

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

किण्हा नीला य काऊय, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्क लेसा य छट्ठाय, नामाइं तु जहक्कम ॥१॥

उ. अ. ३४ गा. ३

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य ।
तिव्वारम्भपरिणओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥ २ ॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ ।
एअ जोगसमाउत्तो, किण्ह लेसं तु परिणमे ॥३॥

उ. अ. ३४ गा. २१-२२

इस्सा अमरिस अतवो, अविज्ज माया अहीरिया ।
गेद्धी पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए ॥ ४ ॥
साय गवेसए य आरंभा अविरओ
खुद्दो साहस्सिओ नरो ।
एअ जोगसमाउत्तो,
नीललेसं तु परिणमे ॥ ५ ॥

उ. अ. ३४ गा. २३-२४

अध्याय तेरहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

द अ ८ गा ४०

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विउसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दण्डपहं गहाय,
अविउसिए घासति पावकम्मी ॥२॥

सू प्र अ १३ उ १ गा ५

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखा य वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥३॥

सू. प्र अ १३ उ १ गा. ८

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि पयाओ धम्म लेसाओ।
पयाहिं तिहिं वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥१५॥

उ अ ३४ गा ५७

अन्त मुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छन्ति परलोय ॥१६॥

उ अ ३४ गा ६०

तम्हा पयाणि लेसाणं, अणुभाव वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणि ॥१७

उ अ ३४ गा ६१

॥ इति द्वादशोऽध्याय ॥

अध्याय तेरहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
मायाअ लोभो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

द अ ८ गा ४०

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अन्धे व से दण्डपहं गहाय,
अविओसिए धासति पावकम्मी ॥२॥

सू प्र श्र १३ उ १ गा ५

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखा य वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥३॥

सू, प्र श्र १३ उ १ गा ८

हत्थागया इमे कामा, कालिमा जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१५॥
उ म ५ गा ६

जणेणसद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगम्भइ ।
काम भोगाणुरायणं, केस संपडिवज्जइ ॥१६॥
उ म ५ गा ७

तओ से दंड समारभइ, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयग्गाम विहिंसइ ॥१७॥
उ म ५ गा ८

हिंसे बाले मुसावाइ माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंस सेयमेअ ति मन्नइ ॥१८॥
उ म ५ गा, ९

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मल संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥१९॥
उ म ५ गा १०

तओ पुट्ठो आयकेण, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥२०॥
उ म ५ गा ११

सुआ मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ २१॥
उ म ५ गा १२

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥
उ अ १३ गा. १६

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिआ व भाया
कालम्मि तम्मि सहरा भवंति ॥२३॥
उ अ १३ गा २२

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि;
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाओ ॥२४॥
उ अ १४ गा १५

॥ इति त्रयोदशोऽध्याय ॥

अध्याय चौदहवां

——(०:)——

॥ श्री भगवानुवाच ॥

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

सू. प्र. अ २ उ १ गा. १

डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवमाउखयम्मि तुट्टई ॥२॥

सू. प्र. अ २ उ १ गा २

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

सू. प्र. अ २ उ १ गा. ३

जमिणं जगति पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥४॥

सू. प्र. अ २ उ १ गा ४

विरया वीरा समुट्ठिया,
कोहकायरियाइ पीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो,
पावाओ विरिया अभिनिव्वुडा ॥५॥

सू. प्र. अ २ उ १ गा १२

जे परमत्थं परं जणा,
संसारे परिवत्तइ मह।
अदु इंखणिया उ पाविया,
इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥६॥
सू. प्र. अ. २ उ. २ गा. २

जे इह सायाणुगरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेणसमं पगब्भिया,
न विजाणंति समाहिमाहियं ॥७॥
सू. प्र. अ. २ उ. ३ गा. ४

अदक्खुव दक्खुवाहियं,
सद्दहसु अदक्खु दंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्ध दंसणे,
मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥८॥
सू. प्र. अ. २ उ. ३ गा. ११

गारं पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाणं गच्छे सलोगयं ॥९॥
सू. प्र. अ. २ उ. ३ गा. १३

अभविंसु पुरा वि भिक्खवो,
आएसावि भवंति सुव्वता।

एयाई गुणाइ आहु ते;
कासवस्स अणुधम्म चारिणो ॥१०॥
सू प्र श्र १ उ ३ गा २०

तिविहेण वि पाण माहणे
आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे अणागयावरे ॥११॥
सू प्र श्र १ उ ३ गा. २१

॥ श्री भगवानुवाच ॥

सुबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं,
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगंत दुक्खे जरिएव लोए,
सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥१२।
सू प्र श्र ७ उ १ गा ११

जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे ।
एव पावाई मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥
सू प्र श्र ८ उ १ गा १६

साहरे हत्थपाए य मणं पंचेन्द्रियाणि य ।
पावकं च परिणाम भासा दोसं च तारिसं॥१४॥
सू प्र श्र ८ उ १ गा १७

एयं खु णाणिणो सारं; जं न हिंसति कचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावन्त वियाणिया ॥ १५ ॥
सू. प्र. अ. ११ उ. १ गा. १०

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं;
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता;
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ १६ ॥
सू. प्र. अ. १० उ. १ गा. २१

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणालिसं ॥ १७ ॥
सू. प्र. अ. ११ उ. १ गा. २४

न कम्मणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मणा कम्म खवेंति धीरो ।
मेधाविणो लोभमया वतीता;
संतोसिणो नोपकरेंति पावं ॥ १८ ॥
सू. प्र. अ. १२ गा. १५

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे;
ते आत्तओ पासइ सव्व लोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं;
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥ १९ ॥
सू. प्र. अ. १२ गा. १८

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

एयाइ गुणाइ आहु ते;
कासयस्स अणुधम्म चारिणो ॥१०॥
सू प्र. अ २ उ १ गा १०

तिविहेण वि पाण माहणे
आयहिते अणियाण संवुडे ।
एव सिद्धा अणतसो;
संपइ जे अणागयावरे ॥११॥
सू प्र अ २ उ १ गा. २१

॥ श्री भगवानुवाच ॥

संबुज्झहा जतवो माणुसत्तं;
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगत दुक्खे जरिएव लोए,
सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥१२ ।
सू प्र अ ७ उ १ गा ११

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी; अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥
सू. प्र अ ८ उ १ गा १६

साहरे हत्थपाए य मणं पंचेन्द्रियाणि य ।
पावकं च परिणाम भासा दोसं च तारिसं॥१४॥
सू. प्र. अ ८ उ १ गा १७

एयं खु णाणिणो सारं; जं न हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंत वियाणिया ॥ १५ ॥

सू प्र श्र ११ उ १ गा १०

सयुज्झमाणे उ णरे मतीम,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाई दुहाई मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ १६ ॥

सू प्र श्र १० उ १ गा. २१

आयगुत्ते सया दन्ते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणालिसं ॥ १७ ॥

सू प्र श्र ११ उ १ गा २४

न कम्मणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मणा कम्म खवेंति धीरो ।
मेधाविणो लोभमया वतीता;
संतोसिणो नोपकरेंति पावं ॥ १८ ॥

सू प्र श्र १२ गा १५

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तउ पासइ सव्व लोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥ १९ ॥

सू प्र श्र १२ गा १८

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अध्याय पन्द्रहवां

एगे जिए जिया पंच; पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं; सव्वसत्तु जिणामहं ॥ १ ॥
उ अ २३ गा ३६

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं ॥२॥
उ अ २३ गा ५८

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा उ, मणगुत्ती चउव्विहा ॥ ३ ॥
उ अ २४ गा. २०

संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥ ४ ॥
उ अ २४ गा २१

वत्थगंधमलंकारं; इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति; न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ ५ ॥
द अ २ गा. २

जे य कंते पिए भोए; लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए; से हु चाइ ति वुच्चइ ॥ ६ ॥
द अ २ गा. ३

समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ ७ ॥
द. अ २ गा. ४

पाणिवहमुसावाए, अदत्तमेहुण परिग्गहा विरओ ।
राईभोयण विरओ, जीवो होइ अणासवो ॥ ८ ॥
उ अ ३० गा २

जहा महातलागस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥ ६ ॥
उ अ ३० गा ५

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥
उ अ ३० गा ६

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥ ११ ॥
उ अ ३० गा ७

अणसणमूणोयरिया,
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया,
य बज्झो तवो होइ ॥ १२ ॥
उ अ ३० गा ८

पायच्छित्त विणओ,
    वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो,
    एसो अब्भिंतरो तवो ॥ १३ ॥
                उ अ. ३० गा ३०

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
    अकालिअं पावइ से विणास ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
    आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥ १४ ॥
                उ अ ३२ गा. २४

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व,
    अकालिअ पावइ से विणास ।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
    सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चु ॥ १५ ॥
                उ अ. ३२ गा ३७

गंधेसु जो गिद्धिमुवइ तिव्वं,
    अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंध गिद्ध,
    सप्पे बिलाओ विव निक्खमते ॥ १६ ॥
                उ अ ३२ गा ५०

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
    अकालिअं पावइ से विणासं ।

रागाउरे बडिस विभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिस भोग गिद्धे ॥ १७ ॥
उ० अ० ३२ गा० ६३

फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रन्ने ॥ १८ ॥
उ० अ० ३२ गा० ७६

॥ इति पंचदशोऽध्यायः ॥

पायच्छित्त विणओ।
वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो,
एसो अब्भिंतरो तवो ॥ १३ ॥
उ अ ३० गा. ३०

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणास।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥ १४ ॥
उ अ ३२ गा. २४

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व,
अकालियं पावइ से विणास।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चु ॥ १५ ॥
उ अ ३२ गा ३७

गन्धेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगन्ध गिद्धे
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥ १६ ॥
उ अ ३२ गा ५०

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।

बालाण अकाम तु; मरण असइ भवे ।
पण्डिआण सकामतु; उक्कोसेण सइ भवे ॥ ६ ॥
उ अ ५ गा ३

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च; जलणं च जलप्पवेसो य।
अणायार भंडसेवा; जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ ७ ॥
उ अ. ३६ गा २[illegible]

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएण रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥
उ अ ११ गा. ३

अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दंते; न य मम्ममुदाहरे ॥ ९ ॥
नासीले न विसीले य न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए; सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥१०॥
उ अ ११ गा ४-५

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥ ११ ॥
उ अ २० गा ४५

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥
उ अ १८ गा २५

अध्याय सोलहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

समरेसु अगारेसु, सन्धीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥ १ ॥
उ अ १ गा २६

साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥ २ ॥
द अ. ५ उ १ गा १२

एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया ।
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥ ३ ॥
उ अ २ गा १३

अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥४॥
उ अ २ गा २४

समणं संजयं दन्तं, हणेज्जा कोई कत्थई ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥५॥
उ अ २ गा २७

बालाण अकाम तु, मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामंतु, उक्कोसेण सइं भवे ॥ ६ ॥
उ अ ५ गा ३

सत्थगहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलप्पवेसोय।
अणायार भंडसेवा; जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ ७ ॥
उ अ ३६ गा २

अह पचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएण रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥
उ अ ११ गा ३

अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सया दंते; न य मम्ममुदाहरे ॥ ९ ॥
नासीले न विसीले अ न सिआ अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए; सीक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥१०॥
उ अ ११ गा ४-५

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छइ सरणं तम्मि काले ॥ ११ ॥
उ अ २० गा ४५

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥
उ अ १८ गा २५

अध्याय सोलहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

समरेसु अगारेसु, संधीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥ १ ॥
उ अ १ गा २६

साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥ २ ॥
द अ. ५ उ १ गा १२

एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥ ३ ॥
उ अ २ गा १३

अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥४॥
उ अ २ गा २४

समणं संजयं दंतं, हणेज्जा कोवि कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एवं पेहिज्ज संजए ॥५॥
उ अ २ गा २७

बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥ ६ ॥
उ अ ५ गा ३

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलप्पवेसो य।
अणायार भंडसेवा, जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ ७ ॥
उ अ ३६ गा २

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥
उ अ ११ गा ३

अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।
अहस्सिरे सया दंते; न य मम्ममुदाहरे ॥ ९ ॥
नासीले न विसीले य न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए; सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥१०॥
उ अ ११ गा ४-५

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥ ११ ॥
उ अ २० गा ४५

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥
उ अ १८ गा २५

दुक्ख हयं जस्स न होइ मोहो
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो
लोहो हओ जस्स न किंचणाई ॥ १३ ॥
उ अ. ३२ गा ८

बहुआगमविण्णाणा समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।
एए ण कारणेणं अरिहा आलोयणं सोउं ॥ १४ ॥
उ अ. ३६ गा २६१

भावणा जोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥ १५ ॥
सू प्र अ १५ गा ५

सवणे नाणे विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धी ॥१६॥
भ श २ उ ५

अवि से हासमासज्ज हंता णंदीति मन्नति ।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढति अप्पणो ॥ १७ ॥
आ. प्र. अ ३ उ १

आवस्सय अवस्सं करणिज्ज
धुवनिग्गहो विसोहिय ।
अज्झयणछक्कवग्गो
नाओ आराहणामग्गो ॥ १८ ॥
अनुयोगद्वार

सावज्जजोगविरई,
उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती ।

सचित्तस्स निक्खिवणा,
　　　　चरणतिगिच्छगुणधारणा चेव ॥ १९ ॥
　　　　　　　　　　　　　अनुयोगद्वार

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होई इइ केवली भासियं ॥ २० ॥
　　　　　　　　　　　　　अनुयोगद्वार

तिरिणसहस्सा सत्तसयाइं, तेहत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो, सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ २१ ॥
　　　　　　　　　　　भ श ६ उ ७

॥ इति षोडशोऽध्याय ॥

अध्याय सत्रहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

नेरइया सत्तविहा पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभसक्कराभा वालुयाभा य आहिया ॥ १ ॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ २ ॥

उ अ ३६ गा १५६-१५७

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

सू श्रु अ ५ उ १ गा ३

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी
ण सिक्खति सेय वियस्स किंचि ॥ ४ ॥

सू श्रु अ ५ उ १ गा ४

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं
उट्ठे वि छिंदंति दुवेवि कण्णे।

सिण्णं विविक्कस्स विहरियमित्त
तिक्खाहिं सूलाहिं भितावयंति ॥ ५ ॥
सू. प्र. श्र १ उ १ गा ११

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व
राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणियपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ ६ ॥
सू. प्र. श्र ५ १ गा २१

रुहिरे पुणो वच्च समुस्सियंगे
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता ।
पयंति णं नेरइए फुरंते
सजीव मच्छेव अयोकवल्ले ॥ ७ ॥
सू. प्र. श्र ५ उ १ गा १५

नो चेव ते तत्थ मसी भवंति
ण मिज्जति तिव्वाभि वेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ ८ ॥
सू. प्र. श्र ५ उ १ गा १६

अच्छी निमिलियमेत्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं
नरए नेरइयाणं अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ ६ ॥
जी. प्र. ३ उ ३ गा ११

अइसीयं अइउण्हं अइतण्हा अइक्खुहा ।
अइभयं च नरए नेरइयाणं दुक्खसयाइं अविस्सामं १०
जी. प्र. ३ उ ३ गा १२

अ सारिस पुव्यमकासिकम्मं
समेव आगच्छति संपराए ।
एगंत दुक्खं भवमज्जणित्ता,
वेदति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥ ११ ॥
सू प्र श्र ५ उ १ गा २३

जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
समाययंति अमइं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥ १२ ॥
उ अ ४ गा २

पयाणि लोऽग्वा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए ।
एगतदिट्ठी अपरिग्गहेउ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥ १३ ॥
सू प्र श्र ५ उ १ गा, २४

दया मज्झरिद्धा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भामउत्रवाणमन्तर, जोइस वेमाणिया तहा ॥ १४ ॥
उ, अ ३६ गा १ २

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंच विहा जोइसिया दुविहा वेमाणिया तहा ॥१५॥
उ अ ३६ गा १ ४

असुरा नाग सुवण्णा विज्जू अग्गी वियाहिया ।
दीवोदहि दिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥१६॥

उ अ ३६ गा २०५

पिसाय भूय जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगाय गंधव्वा अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥ १७ ॥

उ अ. ३६ गा २०६

चन्दा सूराय नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
ठिया विचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥ १८ ॥

उ अ ३६ गा २०७

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥ १९ ॥

उ अ ३६ गा २०८

कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिन्दा, बम्भलोगा य लंतगा ॥ २० ॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥ २१ ॥

उ अ ३६ गा २०९-२१०

कप्पाईया उ जे देवा दुविहा ते वियाहिया ।
गेविज्जाणुत्तरा चेव गेविज्जा नवविहा तहिं ॥ २२ ॥

उ अ ३६ गा २११

अध्याय अठारहवाँ

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥ १ ॥

उ अ १ गा २

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥ २ ॥

उ अ १ गा ९

आसणगओ न पुच्छिज्जा, नेव सेज्जागओ कयाइ वि।
आगम्मुक्कुडुओ संतो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥ ३ ॥

उ अ १ गा २२

जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥ ४ ॥

उ अ १ गा २७

हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥ ५ ॥

अभिक्खणं कोही हवइ, पबंध च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥ ६ ॥
अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई ॥
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥७॥
पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ॥
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥८॥

उ अ ११ गा ७-८-९

अह पण्णरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥ ९ ॥

उ अ ११ गा १०

अप्पं चाहिक्खिवई, पबंधं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥१०॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥११॥
कलहडमर वज्जए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥ १२ ॥

उ अ ११ गा ११-१२-१३

जहाहि अग्गी जलणं नमंसे,
माणाहुईमंत पयाभिसत्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ १३ ॥

द. अ ६ उ १ गा ११

आयरियं कुवियं णच्चा पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो; वएज्ज ण पुणत्ति य॥१४॥
उ अ १ गा ४१

णच्चा णमइ मेहावी; लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाण सरणं; भूयाणं जगई जहा ॥ १५ ॥
उ अ १ गा ४५

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ १६ ॥
उ अ १ गा ४८

अत्थि एगं धुवं ठाणं; लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू; वाहिणो वेयणा तहा ॥१७॥
उ अ २३ गा ८१

निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धीलोगग्गमेव य।
खेमं सिवमणाबाहं; जं चरंति महेसिणो ॥ १८ ॥
उ अ २३ गा ८३

नाणं च दंसणं चेव; चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ १९ ॥
उ अ २८ गा ३

नाणेण जाणइ भावे; दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥ २० ॥
उ अ २८ गा ३५

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ २१ ॥

उ अ ३२ गा. २

सव्वं तओ जाणइ पासए य
अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥ २२ ॥

उ अ ३२ गा १०९

सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयंगए ॥२३॥

दशाश्रुतस्कन्ध अ ५ गा १४

जहा दड्ढाण बीयाणं, ण जायंति पुणंकुरा ।
कम्म बीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥ २४ ॥

दशाश्रुतस्कन्ध अ ५ गा १५

॥ श्री गौतमोवाच ॥

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदी चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२५॥

उ अ ३६ गा ५६

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अलोए पडिहया सिद्धा,
लोयग्गे अ पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ता णं
तत्थ गन्तूण सिज्झई ॥ २६ ॥

उ अ ३६ गा ५०

अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया ।
अउलं सुहसम्पन्ना, उवमा जस्स नत्थि उ ॥ २७

उ अ ३६ गा ६७

॥ सुधर्मोवाच ॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी,
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते भगवं,
वेसालिए विआहिए त्तिबेमि ॥ २८ ॥

उ अ ६ गा १७

॥ इति अष्टादशोऽध्यायः ॥